सेठियाजैनग्रन्थमाला पुष्पं ७१ तमम्

श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

# अन्ययोगव्यवच्छेदिका

तद्व्याख्या च

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

# स्याद्वादमञ्जरी

बीकानेरवास्तव्यै: ओसवाल-वणिग्वंशज भैरोंदान जेठमल सेठिया

इत्येतैः प्रकाश्य नीता

वीर सं० २४६३ प्रथमावृत्तिः ५०० मूल्यम् १)

सेठिया जैन प्रिंटिंग प्रेस बीकानेर में मुद्रित ता० २—११—३७

पुस्तक मिलने का पता—

## अगरचन्द भैरोंदान सेठिया

### जैन शास्त्रभण्डार (लाइब्रेरी)

बीकानेर (राजपूताना)

श्री वीतरागाय नमः

# अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा—

अनन्तविज्ञानमतीतदोष-मबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्द्धमानं जिनमाप्तमुख्यं, स्वयंभुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥

जो अनन्त (सकल) ज्ञानी हैं और राग द्वेष आदि अठारह दोषों से रहित हैं। जिनका स्याद्वादरूप आगम बाधा रहित है तथा जो देवों के भी पूजनीय हैं। जो आप्तों में मुख्य हैं और स्वयंभू हैं, अर्थात् जिनको परोपदेश के बिना ही तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसे अन्तिम-चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी की स्तुति करने को मैं (हेमचन्द्राचार्य) यत्न करूँगा ॥ १ ॥

श्रद्धालुता व लघुता का प्रकाशन—

**अयं जनो नाथ! तव स्तवाय, गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।**
**विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-मेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥**

हे नाथ! मैं आपके दूसरे- असाधारण शरीर के लक्षण आदि -गुणों की भी स्तुति करने की श्रद्धा रखता हूं। किन्तु एक यथार्थवाद (यथार्थ वस्तु का प्रतिपादन) नाम के गुण की ही स्तुति करता हूं, क्योंकि मुझ में परीक्षा करने का पाण्डित्य नहीं है, अर्थात् यद्यपि जगद्गुरु के यथार्थवाद गुण की परीक्षा करने का सामर्थ्य मुझ में नहीं है, तो भी उत्कट श्रद्धा और भक्ति के कारण मैं अपने को परीक्षा करने में पंडित समझ रहा हूं ॥ २ ॥

विरोधियों को सम्मति—

**गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी, मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।**
**तथापि सम्मील्य विलोचनानि, विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥ ३ ॥**

अन्य मतावलम्बी आप के गुणों में असूया- मत्सर भाव रखते हैं, इसलिए वे यदि आपको अपना स्वामी स्वीकार न करें तो न सही किन्तु वे नेत्रों को मींचकर (चित्त को एकाग्र करके) सच्चे न्याय मार्ग का विचार अवश्य करें ॥ ३ ॥

ईश्वरकर्तृत्व पर विचार—

**कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।**
**इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्यु-स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥**

इस जगत का कर्ता—बनानेवाला—कोई अवश्य है और वह एक, सर्वव्यापक, स्वतन्त्र और नित्य है, इस प्रकार दुराग्रह रूपी विडम्बनाएं (आडम्बर) उन की हैं, जिनके आप शिक्षक नहीं हैं ॥ ६ ॥

धर्म धर्मी के गौण भेद और समवाय सम्बन्ध पर विचार—

**न धर्मधर्मित्वमतीव भेदे, वृत्त्याऽस्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति ।**
**इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥ ७ ॥**

धर्म और धर्मी का अत्यन्त भेद मानने पर 'ये इस धर्मी के धर्म हैं और यह इन धर्मों का आधारभूत धर्मी है' ऐसा धर्म धर्मी का जो व्यवहार होता है, वह न होगा ।

वैशेषिक—धर्म और धर्मी का गौण भेद होने पर भी समवाय सम्बन्ध से धर्मी में धर्म रहते हैं, इसलिए "ये इस धर्मी के धर्म हैं तथा यह इन धर्मों का आधारभूत धर्मी है" ऐसा व्यवहार हो सकेगा ।

मायोपदेशात्परमर्म भिन्दन्–अहो ! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥ १० ॥

जिन के सिर पर विवाद का भूत सवार रहता है तथा वितण्डावाद में प्रवीणता होने के कारण जिन के मुँह में खाज चला करती है और जो तत्त्व-ज्ञान से शून्य हैं, एसे संसारी मनुष्यों को छलादि (छल जाति निग्रहस्थान) का उपदेश देकर दूसरों के मर्म स्थान के समान तत्त्व का छेदन करनेवाले न्यायवादी मुनि अहो ! कैसे अच्छे वैरागी हैं ! ॥ १० ॥

वेदोक्त हिंसा पर विचार—

न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा, नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघातान्नृपतित्वलिप्सा – सब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥ ११ ॥

वेदोक्त भी हिंसा धर्म का कारण नहीं होती है ; क्योंकि जो हिंसा है वह धर्म का कारण कैसे हो सकती और जो धर्म का कारण है, वह हिंसा कैसे हो सकती है ?। वेदोक्त हिंसा अपवाद रूप भी नहीं हो सकती ; क्योंकि जिस कार्य के लिए उत्सर्ग (सामान्य) वाक्य होता है उसी कार्य के लिए अपवाद (विशेष) वाक्य होता है। दूसरे कार्य के लिए प्रयोग किया हुआ वाक्य अपवाद रूप नहीं हो सकता। जो जीव वध करके स्वर्ग आदि प्राप्त करना चाहते हैं वे मानो अपने पुत्र को मार कर राज्य प्राप्त करने की कामना करते हैं। जैसे कोई महापापी क्रूर परिणाम से अपने पुत्र को मारकर राज्यलक्ष्मी प्राप्त भी करले तो भी उसका पुत्रहिंसा जन्य कलंक दूर नहीं हो सकता, वैसे ही स्वर्ग आदि की प्राप्ति की इच्छा से जीववध करने वाले का भी जीव वध का पाप मिट नहीं सकता ॥ ११ ॥

ज्ञान को परोक्ष मानने वाले भाट्ट के तथा एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से प्रत्यक्ष माननेवाले यौग के मत पर विचार—

न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

एक काल में रहने वाली वस्तुओं में परस्पर कार्य कारण भाव नहीं होता है बौद्ध मत में सब वस्तुएं क्षणिक हैं; इसलिए कारण (प्रमाण) का नाश हो जाने पर कार्य (प्रमाण का फल) की भी उत्पत्ति नहीं होगी। ज्ञानाद्वैत मार्ग में बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं बनता। ऐसी हालत में बौद्ध की मानी हुई इन्द्रजाल के समान क्षणिकादि वस्तुएँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं ॥ १६ ॥

शून्यवादी के मत पर विचार--

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः, स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाण-महो! सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥ १७ ॥

प्रमाणवादी प्रत्यक्षादि-प्रमाण द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि कर सकते हैं; लेकिन शून्यवादी कोई प्रमाण नहीं मानता है इसलिए वह उन की तरह विन प्रामाण के अपने पक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता। यदि वह अपने पक्ष की सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादि में से किसी प्रमाण का सहारा लेगा तो उस पर उस का सिद्धान्त कुपित होगा, अर्थात् सिद्धान्तबाधा उपस्थित होगी। हे नाथ! तुम से असूया[1] करनेवालों की ऐसी अच्छी समझ है! ॥१७॥

क्षणिक वाद पर विचार.—

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छ-न्नहो! महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

---

१ गुणों में दोष प्रकट करना।

पदार्थों में उपाधि के भेद से विवक्षा किये हुए अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्यत्व धर्म परस्पर विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् हर एक वस्तु में स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव) की अपेक्षा अस्तित्व (सत्ता) धर्म तथा परचतुष्टय (परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभाव) की अपेक्षा नास्तित्व धर्म और एक साथ उभय (स्वचतुष्टय व परचतुष्टय) की अपेक्षा अवक्तव्यत्व (वचन से नहीं कहने योग्य) धर्म पाया जाता है। इस बात को न समझकर ही मूर्ख लोग विरोध आदि दोषों से भयभीत हुए एकान्त मार्ग का ग्रहण करते हैं, इसलिए वे न्याय मार्ग से गिरते हैं॥ २४॥

यद्यपि अनेकान्तवाद सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों में व्यापक है, तो भी नयों के मूल भेदों की अपेक्षा चार धर्मों का कथन करते हुए भगवान् के उद्गार प्रकट करते हैं—

**स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।**
**विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्व-सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥**

पदार्थ कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। कथंचित् सामान्यरूप और कथंचित् विशेषरूप है। कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य है। कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है। हे विद्वानों के नाथ! ये सब आपके उद्गार तत्त्वामृत का पान करने से उत्पन्न हुए हैं॥ २५॥

नित्यवाद और अनित्यवाद को सदोष दिखाते हुए अनेकान्तवाद की सर्वोत्कृष्टता प्रकट करते हैं—

**य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।**
**परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥**

श्री

# विषयानुक्रमणिका



## १ कारिकायाम्



## २ कारिकायाम्

### ३ कारिकायाम्



### ४ कारिकायाम्



### ५ कारिकायाम्



### ६ कारिकायाम्

॥ ६ ॥

## २७ कारिकायाम्



## २८ कारिकायाम्



## २९ कारिकायाम्



## ३० कारिकायाम्



## ३१ कारिकायाम्



॥ ८ ॥

अर्हम्

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

# स्याद्वादमञ्जरी ।

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद् येन सा
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥१॥
निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशां
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपे धृते ।

१ 'स्वाङ्गैकरूपौ' इति च पाठः ।

यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
मद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥२॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवाभिपतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भजन्ति॥ ३ ॥
मातर्भारति ! सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

इह हि विषमदुःषमारजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणीदेश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताभयदानाभिधानजीवातु-संजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पाऽवधिस्थायिविशदयशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्य-निर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद् द्वात्रिं

२ 'भवन्ति' इत्यपि पाठः ।

अतीतदोषमित्यनेनाऽष्टादशदोषसंक्षयाऽभिधानाद्—अपायापगमाऽतिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाऽशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणायनभणनाद्—वचनाऽतिशयः। अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाऽकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुराऽसुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्यसपर्यापरिज्ञापनात्—पूजातिशयः ।

अत्राह परः—अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु, नाऽतीतदोषमिति; गतार्थत्वात्। दोषाऽत्ययं विनाऽनन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः । अत्रोच्यते—कुनयमताऽनुसारिपरिकल्पिताऽऽप्तव्यवच्छेदार्थमिदम् । तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्। गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः"॥१॥इति॥

तद् नूनं न ते अतीतदोषाः, कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ? ।

आह—यद्येवम्, अतीतदोषमित्येवाऽस्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते; दोषाऽत्ययेऽवश्यंभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य । न । कैश्चिद्दोषाऽभावेऽपि तदनभ्युपगमात् । तथा च तद्वचनम्—

"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते?"॥१॥

तथा—"तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे"॥१॥

रमर्त्यपूज्यत्वं न कथञ्चन व्यभिचरतीति। सत्यम्। लौकिकानां हि अमर्त्या एव पूज्यतया प्रसिद्धाः, तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनाऽनेन ज्ञापयन्नाचार्यः परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति। एवं पूर्वार्धे चत्वारोऽतिशया उक्ताः।

अनन्तविज्ञानत्वं च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय श्रीवर्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते। श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्यनुभवात्मकभावार्हन्त्यरूपया वर्धमानं वर्धिष्णुम्। नन्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात् कथं वर्धमानतोपपत्तिः? इति चेत्। न। यथा निशीथचूर्णौ भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यबाह्यलक्षणसङ्ख्याया उपलक्षणत्वेनाऽन्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम्, एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम्। ततो नाऽतिशयश्रिया वर्धमानत्वं दोषाश्रय इति।

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याऽप्रतिपातिगुणस्थानप्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमिति विशेषणम्। रागादिजेतृत्वाद् जिनः; समूलकाषङ्कषितरा–

१ 'सम्भविनी' इत्यपि पाठः।

गादिदोष इति। अपरापरसिद्धान्तता च श्रुतकेवल्यादिष्वपि दृश्यते अतस्तद्व्यापोहायाऽऽप्तमुख्यमिति विशेषणम्। आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति—ते खल्वाप्ताः, अभ्रादित्वात् मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः। तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गानां प्रधानत्वेन मुख्यम्, "शाखादेर्यः" ॥७।१।११४॥ इति मुख्ये च। असदृशता च तथाविधगुरूपदेश-परिचर्या-पर्याप्तविद्या-चरणसंपन्नानां सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा, अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमिति विशेषणम्, स्वयम्—आत्मनैव, परोपदेशनिरपेक्षतयाऽवगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भूः—स्वयं संबुद्धः, तम्। एवंविधं परमजिनेन्द्रं स्वामुं—स्तुतिविषयीकर्तुम्, अहं यतिष्ये—यत्नं करिष्यामि।

अत्र चाऽऽचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथाऽवस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान्। अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिमारम्भ इति ज्ञापनार्थम्।

---

१ मि. योगशास्त्रेऽपि पुनरुक्तमाभेत्य आत्यन्तिक— अभूयःसंभव। २ अर्श आदित्वात् मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः।

धर्माः सामान्यधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते; जीवत्वसामान्यवत् । सामान्यमप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते; तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति ।

तथा यत एव जिनम्, अत एवातीतदोषम् । रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः, न चाजिनस्यातीतदोषता । तथा यत एवाऽऽप्तमुख्यम्, अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते, तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठमाप्तमुख्यम्, आप्तमुख्यस्य च प्रमेयविसंवादिवचनतया विसंवादासम्भवात् । अत एवाबाध्यसिद्धान्तम् । न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुतर्कैर्बाधितुं शक्यते । यत एव स्वयम्भुवम्, अत एवामर्त्यपूज्यम् । पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयपतिः लक्षणाक्षयेण स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति । अत्र च श्रीवर्धमानमिति विशेषणमथवा यद् व्याख्यानं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृतीयपादवर्ति 'श्रीवर्धमानाभिधमाऽऽत्मरूपम्' इति विशेष्यमनुवर्तमानं बुद्धौ संप्रधार्य विज्ञेयम् । तत्र हि आत्मरूपमिति विशेष्यपदम्, प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्तं परमात्मानमिति यावत् । आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयमिति प्रथमवृत्तार्थः ॥ १ ॥

अस्यां च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाऽऽभास

निरासेन तेषामाऽऽप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम् ; तच्च भगवतो यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते । अतः स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

**अयं जनो नाथ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव ।**
**विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः ॥ २ ॥**

हे नाथ ! अयं—मल्लक्षणो जनः, तव गुणान्तरेभ्यो—यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्यसाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव किमर्थम्?, स्तवाय—स्तुतिकरणाय; इयं तादर्थ्ये चतुर्थी। पूर्वत्र तु—"स्पृहेर्व्याप्यं वा" ॥२।२।२६॥ इति लक्षणा । तव गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं जन इति भावः । ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुस्तत्किमर्थं तत्रोपेक्षा ?, इत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह—किन्त्विति—अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः । एकम्—एकमेव यथार्थवादं—यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणम् , अयं जनो विगाहतां—स्तुतिक्रियया समन्ताद्

[1] तत्किं तान्यपि स्तोष्यति स इत्याशङ्क्योत्तरार्द्धमाह इत्यपि पाठः ।

व्याप्नोतु; तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ।

अथ प्रस्तुतगुणस्तुतिः सम्यक्परीक्षाक्षमाणां दिव्यदेवानामेवौचितीमञ्चति, नाऽर्वाग्दृशां मयादृशामित्याऽऽशङ्कां विशेषणद्वारेण निराकरोति—यतोऽयं जनः परीक्षाविधिदुर्विदग्धः—अपि सूक्ष्मगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः—पण्डितंमन्य इति यावत् । अयमाशयः—यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षणं मादृशां मतेरगोचरः, तथापि भक्तिश्रद्धाऽतिशयात् तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति; विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्तिमात्रस्वरूपत्वात् स्तुतेः, इति वृत्तार्थः ॥ २ ॥

अथ ये कुतीर्थ्याः कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नाः, तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि संमील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

१ भतीन्द्रियज्ञानिना । २ योग्यता । ३ तत्त्वस्थानम् ।

अमी इति–' अदसस्तु विप्रकृष्टे '[1] इति वचनात् तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद् विप्रकृष्टाः, परे–कुतीर्थिकाः, भवन्तं–त्वाम्, अनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि; मा ईशं शिश्रियन–मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतः–गुणेषु बद्धमत्सराः; गुणेषु दोषाऽऽविष्करणं ह्यसूया; यो हि यत्र मत्सरी भवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते, यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम्; गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थ्यमिवाऽऽस्थाय, तान् प्रति हितशिक्षामुत्तरार्धेनोपदिशति–तथापि–त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि, लोचनानि–नेत्राणि, संमील्य–मिलितपुटीकृत्य, सत्यं–युक्तियुक्तं, नयवर्त्म–न्यायमार्गं, विचारयन्तां–विमर्शविषयीकुर्वन्तु ।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैवं ज्ञापयत्याऽऽचार्यो यदवितथनयपथविचारणाया तेषामेव फलं, वयं केवलमुपदेष्टारः । किं तत्फलम्? इति चेत्; प्रेक्षावत्तेति ब्रूमः । संमील्य विलोचनानीति च वदतः प्रायस्तत्त्वविचारणामेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्रायः । अथवा प्रायमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाऽऽचार्येण वितीर्यते; ततो-

१ इदमः प्रत्यक्षकृते समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥१॥

ऽस्वद्यमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनाऽऽयतिसुखत्वात् भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम् ।

ननु च यदि पारमेश्वरं वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशक्लेश इति ? । नैवम् । परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्यगतां रुचिमरुचिं वाऽनपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्, तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्, न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः । तथा चार्षम्—

" रूसउ वा परो, मा वा, विसं वा परियत्तउ । भासियव्वा हिया भासा सपक्ख-गुणकारिया " ॥ १ ॥

उवाच च वाचकमुख्यः—

" न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् । ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति " ॥ २ ॥ इति वृत्तार्थः ॥ ३ ॥

---

१ क्लिश्यविक्लम् । २ पात्रयेदव इत्यपि पाठः । ३ रुष्यतु वा परः, मा वा विषं वा परिवर्ततां भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिका ॥ १ ॥ ४ उमास्वातिः ।

अथ यथावन्नयवर्त्म-विचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह—

**स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।**
**परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति॥४॥**

व्याख्या—अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति चेति भावाः-पदार्थाः, आत्मपुद्गलादयस्ते; स्वत इति-'सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति' इति स्वत एव-आत्मीयस्वरूपादेव, अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः-एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः; व्यतिवृत्तिः-व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः; ते उभे अपि संवलिते भजन्ते-आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह--न भावान्तरनेयरूपा इति--नेति निषेधे। भावान्तराभ्यां--परा-

---

१ अन्वयव्यतिरेकयुक्ताः। २ एवकारसहितम्। ३ मिलिते। ४ 'निषेधवचनम्' इत्यपि पाठः।

भिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां, भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां नेयं-प्रतीतिविषयं प्रापणीयं, स्वरूपं--यथार्थमनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः । स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वतः एव जनयन्ति । तथाहि--घट एव तावत् पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सजातीयानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया, घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याऽऽख्यां लभते । स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते । इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम् , पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात् । न च धर्मा धर्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः । एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावाऽनुपपत्तेः, करभरासभयोरिव धर्मधर्मिव्यपदेशाऽभावप्रसङ्गाच्च । धर्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थाऽऽनन्त्यप्रसङ्गः, अनन्तधर्मकत्वाद् वस्तुनः ।

तदेवं सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अकुशलाः अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयः, तीर्थान्तरीयाः, स्खलन्ति--न्यायमार्गाद् भ्रश्यन्ति, निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थः । स्खलनेन चात्र

१ 'व्यावृत्तिलक्षणम्' इति च पाठः । २ विशेषाभिधानम् । ३ अभिधानापत्तेः--प्रसङ्गः । ४ कदाग्रहयुक्त० ।

प्रामाणिकजनोपहसनीयता व्रजन्ते । किं कुर्वाणाः ?, द्वयम्–अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं प्रत्यय-द्वयं वदन्तः । कस्मादेतत्प्रत्ययद्वयं वदन्तः ?, इत्याह–परात्मतत्त्वात्–परो–पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ, परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ, तयोर्यदात्मतत्त्वं–स्वरूपम्, अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं, तस्मात्–तदाश्रित्येत्यर्थः; "गम्ययपः कर्माधारे" ॥२।२।७४॥ इत्यनेन पञ्चमी। कथंभूतात् परात्मतत्त्वात् ?, इत्याह–अतथाऽऽत्मतत्त्वात्–मा भूत् पराभिमतस्य परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम् । यथा– येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परैः प्रकल्पितं, न तथा–तेन प्रकारेणाऽऽत्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा, तस्मात् । यतः– पदार्थेभ्यो विष्वग्भावेन सामान्यविशेषौ वर्ण्येते; तैश्च तौ तेभ्यः परत्वेन कल्पितौ; परत्वं चान्यत्वं; तच्चैकान्तभेदाऽविनाभावि ।

किञ्च पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयमनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्ययद्वयं नोपपद्येत। एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः,सामान्यविशेषव्यवहाराऽभावश्च स्यात्; सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः । परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते । अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रियायोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते । यो ह्यन्य-

१ अभिन्नभावेनेत्यर्थः ।

यास्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परस्मै च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति, न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम्। इति वृत्तार्थः ॥४॥

अथ तदभिमतैकान्तनित्यानित्यपक्षौ दूषयन्नाह—

**आदीपमाऽऽव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।**
**तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥५॥**

व्याख्या— आदीपं-दीपादारभ्य, आव्योम-व्योम मर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु-पदार्थस्वरूपं, समस्वभावं समः-तुल्यः, स्वभावः-स्वरूपं यस्य तत्तथा। किञ्च वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः। तथा च वाचकमुख्यः— "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति। समस्वभावत्वं कुतः?, इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह— स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि— स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा मर्यादा, तां नातिभिनत्ति—नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि। यथा हि न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात्।

एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः।

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि- नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि-अनित्यमेव इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम्। सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः।

तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते—

तथाहि—प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतस्तैलक्षयात्, वाताभिघाताद् वा ज्योतिष्पर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः; पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम्। न ह्येतावतैवाऽनित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः। न खलु मृद्‌द्रव्यं स्थासक-कोश-कुशूल-शिवक-घटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्; तेषु मृद्‌द्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्। न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वान्यथाऽनुपपत्तेः; प्रदीपालोकवत्।

अथ यच्चाक्षुषं, तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत्कथं चाक्षुषम्?।

नैवम् । उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते; विचित्रत्वाद् भावानाम् । कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः; प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः ? । इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम् ।

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते; शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि; तुल्ययोगक्षेमत्वात् ।

न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति ?, पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद् भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः । इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः । यदाऽपि निर्वाणादर्वाग् देदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् , प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव ।

एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकत्वाद् नित्याऽनित्यमेव। तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह[1] एव तल्लक्षणम्; "अवकाशदमाकाशम्" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो[2] विस्रसातो[3] वा एकस्मान्नभःप्रदेशात् प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः । संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ, तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः । तथा चाहुः-"अयमेव हि भेदो, भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः, कारणभेदश्चेति"। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामाऽऽपत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम्।

तथा च यद् "अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते, तदपास्तम्; एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "तद्भावाऽव्ययं नित्यम्" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् ; उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावाद्-अन्वयिरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते, तदोत्पादव्ययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः । न च

१ उपकारः ।   २ पुरुषशक्तितः   ३ स्वभावतः ।

तथोपयोगे नित्यत्वादीनि ,

"द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ?" ॥१॥

इति वचनात् । न चाकाशं न द्रव्यम् ।

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम् । घटाकाशमपि हि यदा घटाऽपगमे, पटेनाऽऽक्रान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत् तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशाऽऽदितत्तद्व्यपदेश-निबन्धनं भवति । तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तराऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽविष्वग्भावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः ।

स्वायंभुवा अपि हि नित्याऽनित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः । तथा चाहुस्ते–"त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणाऽवस्थारूपः । सुवर्णं धर्मि, तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादिः,

१ सामग्र्या । २ पानपात्रविशेषः, प्याला इति हिन्दी भाषायाम् । ३ ग्रीवाभरणम् ।

धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः—यदा खल्वयं हेमकारो वर्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते, रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते; वर्तमानताऽऽपन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति; सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात् तन्नित्यत्वेन नित्याः; भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वम्; इत्युभयमुपपन्नमिति।

अथोत्तरार्धं विव्रियते—एवं चोत्पादव्ययध्रौव्याऽऽत्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशाऽऽत्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव; इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते; इत्थं हि दुर्नयवादाऽऽपत्तिः। अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वाऽऽदिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्। इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां—भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां; प्रलापाः—प्रलपितानि, असम्बद्धवाक्यानीति यावत्।

१ निरशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां, वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुताः सङ्गिनः। औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नया—श्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युः सदा दुर्नयाः. ॥१॥ २ कुशलाः। ३ प्राकारेण।

अत्र च प्रथममनाऽर्थापमिति परप्रसिद्ध्याऽनित्यपक्षाद्धेतोऽपि, यद्युत्तरत्र यथासंख्यपरि-हारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तम्, तदेव व्याचष्टे--यन्नित्यं, तदपि नित्यमेव कथञ्चित् , यद नित्यं, तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्, प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाभ्युप-गमात् । तथा च प्रशस्तकार --" सा तु द्विविधा, नित्याऽनित्या च; परमाणुलक्षणा नित्या कार्यलक्षणा त्वनित्या " इति ।

न चात्र परमाणु-कार्यद्रव्यलक्षणविषयद्वयभेदात् नैकाधिकरणं नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम् , पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात् , एवमबादिष्वपि । आकाशेऽपि संयोगविभा-गाङ्गीकारात् तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव । तथा च स एवाह--"शब्दकारणत्ववचनात् संयो-गविभागौ" इति नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वम् , एतच्च लेशतो भावितमेवेति ।

प्रकृतयथार्थत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम्–वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् , तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते; अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः; स च क्रमेणा-र्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा ?, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न

१ प्रशस्तपादभाष्ये । २ द्रव्यसमुदायस्वभावा । ३ परस्परपृथग्भूतानां स्थितानाम् ।

तावत् क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्; समर्थस्य कालक्षेपायोगात्। कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः। समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्; न तर्हि तस्य सामर्थ्यम्; अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्; 'सापेक्षमसमर्थम्' इति न्यायात्।

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते; अपि तु कार्यमेव-सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्; तत् किं स भावोऽसमर्थः समर्थो वा?। समर्थश्चेत्, किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते? न पुनर्झटिति घटयति। ननु समर्थमपि बीजम्-इलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा?। यदि नोपक्रियेत, तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव, किं न तदाऽप्यर्थक्रियायामुदास्ते?। उपक्रियेत, चेत् सः, तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्?। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वाऽऽपत्तेः।

भेदे तु स कथं तस्योपकारः?, किं न सह्यविन्ध्यादेरपि?। तत्संबन्धात् तस्यायमिति चेत्;

१ पृथिवी।

उपकार्योपकारकयोः कः सम्बन्धः ? । न तावत् संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्, अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नापि समवायः, तस्यैकत्वात्-व्यापकत्वाच्च-प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वात् न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः । नियतसम्बन्धिसंबन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः । तथा च सति-उपकारस्य भेदाऽभेदकल्पना तदवस्थैव । उपकारस्य समवायादभेदे-समवाय एव कृतः स्यात् । भेदे-पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वम् । तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते ।

नाप्यक्रमेण-स ह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम् । कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् ? । करणे वा, क्रमपक्षभावी दोषः, अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावाद्- अवस्तुत्वप्रसङ्गः । इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति, अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति, इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः ।

एकान्ताऽनित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी, स च न क्रमेणाऽर्थक्रियासमर्थः देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाऽभावात् । क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च

क्षणिकस्याऽसम्भवि। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिः--देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते; न चैकान्तविनाशिनि साऽस्ति। यदाहुः—

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते" ॥१॥

न च सन्तानाऽपेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः संभवति, सन्तानस्याऽवस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य क्षणिकत्वं, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वं, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः।

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके संभवति। स[1] ह्येको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा?। यद्येकेन, तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्; एकस्वभावजन्यत्वात्। अथ नानास्वभावैर्जनयति— किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्; तर्हि ते स्वभावास्तस्याऽऽत्मभूता अनात्मभूता वा?। अनात्मभूताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः। यद्यात्मभूताः, तर्हि तस्यानेकत्वम्; अनेकस्वभावत्वात्; स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत; तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषां; तस्य चैकत्वात्।

अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते;तर्हि

१ बौद्धमते क्षणशब्दः पदार्थवाचकः।

नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिक वादिना ? । अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रमं, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः?, इति चेत्,अहो स्वपक्षपाती देवानांप्रियः -यः खलु स्वयमेकस्मात् निरंशात् रूपादिक्षणलक्षणात् कारणात् युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि,परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नाना कार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति । तस्मात् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा ।

इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते; तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते । इत्येकान्ताऽनित्यवादोऽपि न रमणीयः।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिर विरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्, नित्या नित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्; तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति–

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते"
॥१॥ इति ।

वैद्योपितैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात् । एकस्यैवपटावेश्चलाऽचलरक्ताऽरक्तावृताऽऽवृता

ऽनाघृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेःसौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात्।

अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तरावस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते; तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवाऽनित्यतालक्षणात्। तथापि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः; इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना। यदऽपि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदऽपि नित्यानित्यमेव। क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति - यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति। इति काव्यार्थः ॥५॥

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याऽभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह—

**कर्ताऽस्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।**
**इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥६॥**

व्याख्या—जगतः—प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य, कश्चिद्-अनिर्वचनीयस्वरूपः, पुरुषविशेषः; कर्ता—स्रष्टा, अस्ति—विद्यते। ते हि इत्थं प्रमाणयन्ति—उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्; यद् यत् कार्यं तत् तत् सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं

यथा घटः, तथा चेदं, तस्मात् तथा; व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता–स भगवानीश्वर एवेति।

न चायमसिद्धो हेतुः–यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया, अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको विरुद्धो वा–विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः–प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाऽबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात्। नापि प्रकरणसमः–तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात्।

न च वाच्यम्–ईश्वरः, पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति; अशरीरत्वात्, निर्वृतात्मवत्, इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति। यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्रत्यपितः ?। न तावदप्रतीतः, हेतोराश्रयासिद्धिप्रसङ्गात्। प्रतीतश्चेत्, येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते ?, इत्यतः कथमशरीरत्वम् ?। तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति।

स चैक इति–चः पुनरर्थे। स पुनः पुरुषविशेषः, एकः–अद्वितीयः। बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे, परस्परविमतिसम्भावनाया अनिवार्यत्वात्–एकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वमसमञ्जसमापनीपद्येत, इति।

तथा स सर्वग–इति। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः–सर्वव्यापी। तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां त्रिभुवनत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणाऽनुपपत्तिः, कुम्भाकारादिषु तथा दर्शनात्। अथवा सर्वं गच्छति–जानातीति सर्वगः–सर्वज्ञः; 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति वचनात्। सर्वज्ञत्वाऽभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वाद्–अनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात्।

तथा स स्ववशः–स्वतन्त्रः; सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात्। तथा चोक्तम्—

"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा। अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः"॥१॥ इति॥

पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघाताद्–अनीश्वरत्वापत्तिः।

तथा स नित्य इति–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः। तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः; अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते। यश्चापरस्तत्कर्त्ता

१ अन्य इत्यपि पाठः।

कल्प्यते, स नित्योऽनित्यो वा स्यात्? । नित्यश्चेत्-अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम्? । अनित्यश्चेत् तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम्, तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायाम् अनवस्थादौःस्थ्यमिति ।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्य--उत्तरार्धेन तस्य दुष्टत्वमावष्टे-इमाः--एताः, अनन्तरोक्ताः, कुहेवाकविडम्बनाः--कुत्सिता हेवाकाः --आग्रहविशेषाः, कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः, त एव विडम्बनाः--विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वात् विगोपकप्रकाराः, स्युः--भवेयुः, तेषां प्रामाणिकापसदानां; येषां हे स्वामिन्! त्वं, नानुशासकः--न शिक्षादाता ।

तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाञ्चकार स्तुतिकारः, यथा चैकमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति--स मूर्खः, स पापीयान्, स दरिद्र इत्यादि । त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितुः परमकारुणिकतयाऽनपेक्षितस्वपरपक्षविभागमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते ।

१ 'चैकमेव' इत्यपि पाठः । २ 'भवन्ति' इति च पाठः । ३ 'विभागमितरशास्तृसामान्यमसाधारणम्' इत्यपि पाठो दृश्यते ।

अतोऽत्रायमाशयः- यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहिताऽऽवहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे, तथापि सैव केषाञ्चिद् निचितनिकाचितपापकर्मकलुषिताऽऽत्मनां रुचिरूपतया न परिणमते; अपुनर्बन्धकाऽऽदिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात् । तथा च कादम्बर्यां बाणोऽपि बभाण- "अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः; गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य" इति । अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति ।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना । न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयः, अतिप्रसङ्गात् । स हि तेषामेव दोषः । न खलु निखिलभुवनाऽऽभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया भानवः कौशिकलोकस्याऽऽलोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनाऽऽस्पदम् तथा च श्रीसिद्धसेनः-

---

१ पूर्ववद्बद्धम् । २ यथाबद्धं तथाभोग्यं उदीर्णोत्कर्षणादिसर्वकरणायोग्य कर्म निकाचितमुच्यते । ३ पापं न तीव्रभावात् करोतीत्यादिलक्षणोऽपुनर्बन्धकः, अस्य च पुद्गलपरावर्तमध्य एव मुक्तिः ।

"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं, खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः" ॥१॥

अथ कथमिव तत् कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वम् ?, इति ब्रूमः । यत्तावदुक्तं परैः– क्षित्या-दयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वात्, घटवदिति । तदयुक्तम्, व्याप्तेरग्रहणात् । 'साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्' इति सर्ववादिसंवादः । स चायं जगन्ति सृजन् सश-रीरोऽशरीरो वा स्यात् ? । सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवद् अदृश्यशरीरविशिष्टः ? । प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः, तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुर-भ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः ।

द्वितीयविकल्पे–पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्, आहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवै-गुण्यम् ? । प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्, इतरेतराश्रयदोषाप-त्तेश्च–सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्, तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसि-द्धिरिति ।

---

१ समाहितं श्रेयसि निसमुच्यते । २ तमपि संचरन्त इति ताम्रमा ।

द्वैतीयिकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचारगोचरे; संशयाऽनिवृत्तेः—किं तस्याऽसत्त्वाद् अदृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत्, किंवाऽस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात पिशाचादिवदिति निश्चयाऽभावात्।

अशरीरश्चेत्- तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्-घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः; अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम् ?, आकाशाऽऽदिवत्। तस्मात् सशरीराऽशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः।

किञ्च, त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः- धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात्। तदेवं न कश्चिद् जगतः कर्ता। एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायाऽऽनीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव; तथापि तेषां विचाराऽसहत्वख्यापनार्थं किञ्चिदुच्यते।

तत्रैकत्ववचस्तावत्- बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावना इति, नायमेकान्तः ·अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः

१ मधुमक्षिका।

कर्तेति ब्रूषे, एवं चेद् भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना; तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते? । अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतुं शक्यम्?, तर्हि कीटिकाऽऽदिभिः किं तव विराद्धं?, यत् तेषाममदृश्यादृश्यमपामसाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते । तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाऽऽभासते ।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् तद्धि शरीराऽऽत्मना, ज्ञानाऽऽत्मना वा स्यात्? । प्रथमपक्षे-तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाऽऽश्रयानवकाशः । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता, अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानाऽऽत्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाऽभ्युपगमात् । यदि परमेवं, भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः-तत्र हि शरीराऽऽत्मना सर्वगतत्वमुक्तम्- "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो पाणिरुत विश्वतः पात्" इत्यादि श्रुतेः ।

यच्चोक्तं-तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते- स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण

---

१ संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते ॥ १ ॥ (श्वेताश्व० उ० अ० ३, ३)

निर्मिमीते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ?। आद्ये पक्षे-एकस्यैव भूभूधरादेर्विधाने अक्षोदीयसः[1] कालक्षेपस्य सम्भवाद् बंहीयसा[2]ऽप्यनेहसा[3] न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु- सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः; नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि संकल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः ।

किञ्च, तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणे-अशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते; तथा चाऽनिष्टाऽऽपत्तिः । अथ युष्मत्पक्षेऽपि-यदा ज्ञानाऽऽत्मना सर्वं जगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते, तदाऽशुचिरसाऽऽस्वादाऽऽदीनामप्युपालम्भसंभावनात्, नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनाऽऽत्मकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्च, अनिष्टाऽऽपत्तिस्तुल्यैवेति चेत्; तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा; तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः ?, नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादाऽनुभूतिः । तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादि[4]चिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति ।

---

१ अनल्पस्य । २ अतिशयबहुलेन -अत्यधिकेन । ३ कालेन । ४ रसोई इति हिन्दीभाषायाम् ।

यत्तु ज्ञानाऽऽत्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम्, तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति— 'अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति' इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि; तस्याऽऽत्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाऽभावात्। बहिर्निर्गमे चाऽऽत्मनोऽचैतन्याऽऽपत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः; न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति– यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याद् निष्क्रम्य भुवनं भासयन्ति, एवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद् बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति। तत्रेदमुत्तरम्- किरणानां गुणत्वमसिद्धम्, तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः, स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति।

तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः —

किरणा गुणा न, दव्वं, तेसिं पयासो गुणो, न वा दव्वं। जं नाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ ॥१॥
गन्तूण न परिछिंदइ नाणं णेयं तयम्मि देसम्मि। आयत्थं च्चिय, नवरं अचिंतसत्तीउ विन्नेयं ॥२॥

१ किरणा गुणा न, द्रव्यं, तेषां प्रकाशो गुणो, न वा द्रव्यम्। यज्ज्ञानमात्मगुणः कथमद्रव्यः सोऽन्यत्र ॥ १ ॥
गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञानं ज्ञेयं तस्मिन् देशे, आत्मस्थमेव नवरमचिन्त्यशक्तितो विज्ञेयम् ॥ २ ॥

"लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसं पि । लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा॥३।
एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं। जइ परिछिंदइ सव्वं को णु विरोहो भवे तत्थ? "
॥ ४ ॥ इत्यादि ।

अथ सर्वगः सर्वज्ञ इति व्याख्यातम्। तत्राऽपि प्रतिविधीयते–ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतम्?, प्रत्यक्षेण, परोक्षेण वा? । न तावत् प्रत्यक्षेण; तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयाऽतीन्द्रियग्रहणाऽसामर्थ्यात् । नापि परोक्षेण: तद्धि अनुमानं, शाब्दं वा स्यात्? । न तावदनुमानम्: तस्य लिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात्; न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किञ्चिदव्यभिचारि लिङ्गं पश्यामः ; तस्याऽत्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्धलिङ्गसम्बन्धग्रहणाऽभावात् ।

अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत् । न । अविनाभावाऽभावात् न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनाऽन्यथा नोपपन्ना । द्विविधं हि जगत्— स्थावरजङ्गमभेदात्। तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाऽशुभकर्मपरिपाकवशेनैव । स्थावराणां

१ लोहोपलस्य शक्तिरात्मस्थैव भिन्नदेशमपि । लोहमाकर्षन्ती दृश्यते इह कार्यप्रत्यक्षा ॥ ३ ॥
एवमिह ज्ञानशक्तिरात्मस्थैव हन्त लोकान्तम् । यदि परिच्छिनत्ति सर्वं को नु विरोधो भवेत्तत्र॥ ४ ॥ इति गाथा ॥
२ स्थानशीला. स्थावराः , ३ गच्छन्तीति जङ्गमाः ।

स्याद्वा॰ ॥३६॥

तु सचेतनानामियमेव गतिः । अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनाऽनादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति ।

नाप्यागमस्तत्साधकः, स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात् ? । तत्कृत एव चेत् तस्य सर्वज्ञतां साधयति, तदा तस्य महत्त्वक्षतिः स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात् । अन्यच, तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते, शास्त्रं हि वर्णात्मकम्, ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः, स च शरीरे एव सम्भवी; शरीराऽभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः । अन्यकृतश्चेत्, सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा ? । सर्वज्ञत्वे-तस्य द्वैताऽऽपत्त्या प्रागुक्तैकत्वाभ्युपगमबाधः, तत्साधकप्रमाणचर्चायामनवस्थाऽऽपातश्च । असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः ? ।

अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति, पूर्वाऽपरविरुद्धाऽर्थवचनोपेतत्वात् । तथाहि—" न हिंस्यात् सर्वभूतानि " इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—" षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद् न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः "। तथा " अग्नीषोमीयं पशुमालभेत " " सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत " इत्यादिवचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते ? । तथा— " नानृतं ब्रूयात् " इत्यादिनाऽनृत ॥३६॥

भाषणं प्रथमं निषिध्य, पश्चाद् " ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात् " इत्यादि । तथा—

" न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि " ॥ १ ॥

तथा " परद्रव्याणि लोष्टवत् " इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य, पश्चादुक्तम्— " यद्यपि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते, छलेन वा, तथापि तस्य नादत्तादानम् ; यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् ; ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जते ; तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते, स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते, स्वं ददाति " इति । तथा— " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " इति लपित्वा,

" अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् " ॥२॥

इत्यादि ।

कियन्तो वा दधिमाषभोजनात् कृपणा विवेच्यन्ते ; तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति । किञ्च सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद् विरचयति, तदा जगदुपप्लवकरणस्वैरिणः पश्चादपि कर्तयति-

१ नीटाः ।

प्रदान् सुरवैरिणः, एतद्विक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति?। इति तथाऽयं सर्वज्ञः।

तथा स्ववशत्वं स्वातन्त्र्यं; तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम्?, एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते?। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः। कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्टहेतुकविष्टपसृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वात् अस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथाचाऽऽयातोऽयं "घट्टकुट्यां प्रभातम्" इति न्यायः। किञ्च, प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति, प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति। न हि कुलालो दण्डादि करोति। एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि-कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति।

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽस्वभावो वा?। प्रथमविधायां-जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत; तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरन्त्यक्षणं यावद् निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेश

मासादयति; जलाऽऽहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् ।

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्, तत्स्वभावायोगाद्, गगनवत् । अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वाऽऽपत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा ? । तेनैव चेत् ; सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात्, एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावाऽन्तरेण चेद् नित्यत्वहानिः-स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः । यथा पार्थिवशरीरस्याऽऽहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वाऽपूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः-रजोगुणाऽऽत्मकतया सृष्टौ, तमोगुणाऽऽत्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदः; तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदाद् नित्यत्वक्षतिः ।

अथास्तु नित्यः, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते ? । इच्छावशात् चेद्ः ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनाऽऽत्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः ? ।

तथा शम्भोरष्टगुणाऽधिकरणत्वे, सर्वमेवाऽनुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानिः केन वार्यते ?, इति।

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता, ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा ?। न तावत् स्वार्थात्, तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्, परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्, ततः प्राक् सर्गाद् जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् ?। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याऽभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराऽऽश्रयम्— कारुण्येन सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यम्, इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यत्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य घण्टालालान्यायेन योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति—यथा 'इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न स्युर्येषां त्वमनुशासकः' इति, तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः, अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात्। इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवा

१ बुद्धीच्छाप्रयत्नसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाख्याऽष्टगुणाधिकरणत्वे।

धसम्बन्धेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेशमश्नुवते, इति तन्मतं दूषयन्नाह—

**न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे, वृत्त्याऽस्ति चेद्, न त्रितयं चकास्ति।**
**इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ, न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः॥७॥**

व्याख्या—धर्मधर्मिणोरतीवभेदे-अतीवेत्यत्र-इवशब्दो वाक्यालङ्कारे; तं च प्रायोऽतिशब्दात्, किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः; यथा- " आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम् " " उद्वृत्तः क इव सुखाऽऽवहः परेषाम् " इत्यादि। ततश्च धर्मधर्मिणोः- अतीवभेदे-एकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, स्वभावहानेर्धर्मधर्मित्वं न स्यात्-अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मी-इत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति। तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां-पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वाऽऽपत्तेः।

एवमुक्ते सति, परः प्रत्यवतिष्ठते- वृत्त्याऽस्तीति— अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह-प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः; स च समवयनात् समवाय इति, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्यायते। तया वृत्त्या- समवायसम्बन्धेन, तयोर्धर्मधर्मिणो

रितरेतरविनिर्लुठितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते , इति नाऽनन्तरोक्तो दोष इति ।

अत्राऽऽचार्यः समाधत्ते—चेदिति—यद्येषा तव मतिः—सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता , यतो न त्रितयं चकास्ति—अयं धर्मी, इमे चाऽस्य धर्माः , अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं समवाय इत्येतत् त्रितयं-वस्तुत्रयं , न चकास्ति-ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं राजादिद्रव्यं तस्मात् पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते , नैवमत्र समवायस्याऽपि प्रतिभानम् , किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः , इति कथमस्यापनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः ।

किञ्च, अयं— तेन वादिना एको, नित्य , सर्वव्यापकः , अमूर्तश्च परिकल्प्यते । ततो यथा घटाऽऽश्रिताः पाकजरूपादयो धर्माः समवायसंबन्धेन घटे समवेताः , तथा किं न पटेऽपि ? , तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथा—आकाश एको, नित्यो, व्यापकः, अमूर्तश्च सन्— सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति ? । विनश्यदेकवस्तुसमवायाऽभावे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते । तत्तदवच्छेदकभेदान् नायं दोष इति चेत् , एवमनित्यत्वाऽऽपत्तिः , प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति ।

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभानम् ? । यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम् , इह-

प्रत्ययश्चाऽनुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहाऽऽत्मनि ज्ञानम्, इह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाऽऽख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः, इति पराऽऽशङ्कामभिसन्धाय पुनराह-इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति-इहेदमिति इहेदमिति आश्रयाऽऽश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति समवायसंबन्धेऽपि विद्यते। चशब्दोऽपिशब्दार्थः, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, तथैव च व्याख्यातम्।

इदमत्र हृदयम्-यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं, नाऽपरं वस्त्वन्तरम्; तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते; "प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः" इति वचनात्। एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात् समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते?; यतस्तस्याऽपि यत् समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्धं संबन्धोऽस्त्येव; अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत्; ततश्च इह समवाये समवायत्वम्, इत्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव; ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, एवं समवायेऽपि समवायत्वं समवायान्तरेण संबन्धनीयम्; तदप्यपरेण, इत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी।

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते, स्वाइस्थ्यमाजन्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति—ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धनियन्धने समवायो मुख्य', यत्र त्वसत्तादि प्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलाऽवान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात्। इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाऽभावे जातेरनुद्भूतत्वात् गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्यय साध्य' समवायत्वाभिसम्बन्धः, तस्मादयम् समवाय इति।

तदेतत् न विपश्चितचमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत?। व्यक्तेरभेदेनेति चेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात् तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति, तत्सिद्धी- सिद्ध एव जात्युद्भवः। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवाय', इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्।

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह— न गौणभेद इति गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति, गौणलक्षणाऽभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते—

"अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च, । विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये, धी

कथं गौणे ? " ॥ १ ॥

तस्माद् धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं, नास्तीति भावार्थः।

किञ्च, योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात् समवायसाधनमनोरथः- स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्; इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्; पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्; इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्। अत एवाह- अपि च लोकबाध इति-अपि चेति- दूषणाभ्युच्चये, लोकः- प्रामाणिकलोकः, सामान्यलोकश्च; तेन बाधो- विरोधः, लोकबाधः; तदप्रतीतव्यवहारसाधनात्; बाधशब्दस्य "ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः" (लिङ्गा०७६) इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायाऽऽदिः। इति काव्यार्थः ॥७॥

अथ सत्ताऽभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह—

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता, चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः, सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥८॥

व्याख्या—वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट् पदार्थास्तत्त्वतयाऽभिप्रेताः, तत्र पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिः, तद्यथा—'रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च' इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त— द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्च। इत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात् त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वम्, शौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावात् नाऽऽधिक्यम्। कर्माणि पञ्च, तद्यथा—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति,

१ उत्क्षेपणत्वजातिमदूर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्मोत्क्षेपणम्। २ अवक्षेपणत्वजातिमदधोदेशसंयोगकारणं कर्मावक्षेपणम्। ३ आकुञ्चनत्वजातिमद्वक्रत्वापादकं कर्माकुञ्चनम्। ४ प्रसारणत्वजातिमदृजुत्वापादकं कर्म प्रसारणम्। ५ गमनत्वजातिमदनियतदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम्।

गमनग्रहणाद्- भ्रमणरेचनस्पन्दनाद्यविरोधः ।

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणाद्-अन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते, तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्। तच्च द्विविधं-परमपरं च। तत्र परं-सत्ता, भावो, महासामान्यमिति चोच्यते ; द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात्। अपरसामान्यं च-द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते;तथाहि-द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यम् ; गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः ; ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यम् ; द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तनात् कर्मत्वं सामान्यम् ; द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम्।

तत्र सत्ता-द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्या ? इति चेद्—उच्यते। न द्रव्यं-सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः; एकद्रव्यवत्त्वाद् एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः; द्रव्यत्ववत्-यथा द्रव्यत्वं

१ स्पन्दनेति पाठः। २ द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।

न च सा द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्ताऽपि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं[1] वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं[2] वा द्रव्यम्। तत्राऽद्रव्यं द्रव्यम्—आकाशं, कालो, दिगाऽऽत्मा, मनः, परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति; एकद्रव्यवती च सत्ता, इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वात् न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता; गुणेषु भावात्, गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्यात् न तर्हि गुणेषु वर्तेत; निर्गुणत्वाद् गुणानाम्, वर्तते च गुणेषु सत्ता, सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्; कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्यात् न तर्हि कर्मसु वर्तेत; निष्कर्मत्वात् कर्मणाम्, वर्तते च कर्मसु भावः, सत् कर्मेति प्रतीतेः, तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता।

तथा विशेषाः— नित्यद्रव्यवृत्तयः, अन्त्या[3] अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः, ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम्। तथा च प्रशस्तकरः "अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः"।

---

१ द्रव्यं द्विधा— अद्रव्यं अनेकद्रव्यं च। न विद्यते द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्यं द्रव्यम्। २ अनेकं द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्यं द्रव्यम्। ३ अन्तोऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्याः, यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्त इति भावः।

विनाशाऽऽरम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वऽण्वाकाशकालदिगाऽऽत्ममनस्सु- प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः। यथाऽस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याऽऽकृतिगुणक्रियाऽवयवोपचयाऽवयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा–गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति ; तथाऽस्मद्विशिष्टानां योगिनां–नित्येषु तुल्याऽऽकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनःसु चाऽन्यनिमित्ताऽसम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः " इति। अमी च विशेषरूपा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः ; व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात्।

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति। अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः ; यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते ; यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति ; सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात् पदार्थान्तरमिति षट् पदार्थाः।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याख्यायते– सतामपीत्यादि– सतामपि– सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि, षण्णां पदार्थानां मध्ये, कस्मिंश्चिदेव– केषुचिदेव, पदार्थेषु, सत्ता–सामान्ययोगः, स्याद्–भवेत्, न सर्वेषु। तेषामेषा वाग्योयुक्तिः–सदिति, यतो–द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता इति वचनाद्–यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता, सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेव, अतस्तेष्वेव सत्तायोगः। सामान्यादिपदार्थत्रये तु न, तदभावात्। इदमुक्तं भवति–यद्यपि वस्तुस्वरूपम्–अस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते, तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति, य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदितिप्रत्यय इति, तदभावाद् न सत्तायोगस्तत्र। द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपम्–अस्तित्वमपि विद्यते, अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति, निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात्।

सामान्याऽऽदित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्ययः ?, इति चेद्, बाधकसद्भावादिति ब्रूमः। तथाहि–सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे– अनवस्था। विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे–व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः। समवाये तु तत्कल्पनायां–सम्बन्धाऽभाव, केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते ?, समवायान्तराऽभावात्। तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयन'—

" व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः " ॥ १ ॥ इति । ततः स्थितमेतत्सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति ।

तथा, चैतन्यमित्यादि, चैतन्यं— ज्ञानम् , आत्मनः-- क्षेत्रज्ञाद् , अन्यद्—अत्यन्तव्यतिरिक्तम् , असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः ? , इति पराऽऽशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम्— समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतम् , आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्यात्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद्--बुद्ध्यादीनां नवानामात्म-

१ अस्य व्याख्या— आकाशत्वं न जातिः , व्यक्त्यैक्यात् । २ । घटत्वकलशत्वे न जाती, व्यक्तितुल्यत्वात् ।३। भूतत्वमूर्तत्वे न जाती, आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टये उभयोः सद्भात् सङ्करप्रसङ्गः । ४ । जातावपि जात्यन्तराङ्गीकारेऽनवस्थाप्रसङ्गः । ५ । अन्त्यविशेषता न जातिः, तदङ्गीकारे तत्स्वरूपव्यावृतिहानिः स्यात् । ६ । समवायता न जातिः सम्बन्धाभावात् , इत्येते जातिबाधकाः ॥ २ सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः । ३ अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावोऽनवस्था ।

रीरं- मुक्तं, न स्पृशतः। अपि च -

" यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥१॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः। मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥२॥
तदुच्छेदे च-तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्। नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥३॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगाऽऽयतनबन्धनम्। उच्छिन्नभोगाऽऽयतनो नाऽऽत्मा तैरपि युज्यते ॥ ४ ॥
तदेवं धिषणाऽऽदीनां नवानामपि मूलतः। गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्माऽवशिष्यते ?। स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ ६ ॥
ऊर्मिषट्काऽतिगं रूपं तदस्याऽऽहुर्मनीषिणः। संसारबन्धनाऽधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥ ७ ॥
कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः-ऊर्मिषट्कमिति"।

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिः, अत्वदीयैः-त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः, कणादमतानुगामिभिः सुसूत्रमासूत्रितम्- सम्यगागमः प्रपञ्चितः। अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम्; शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं-तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः, इति हृदयम्। " सूत्रं

1 स ता ज्ञानमुक्ती :।

सु सूमनाकारि मन्ये सन्तुष्यतस्त्वयो '' इत्यनेकार्थवचनात्।

अत्र च सुष्ठुत्वमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम्। यथा– "उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम्" इत्यादि। उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकाराणाम्। तथाहि–अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये, इति महतीयं पश्यतोहरता। यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दार्थः–अस्तीति सन्, सतो भावः सत्ता, अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं; तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाऽप्युक्तम्, तत्किमिदमर्द्धजरतीयं–यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो, नेतरत्र त्रये? इति।

अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावाद् न सामान्याऽऽदित्रये सत्तायोग इति चेत्। न, तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात्। पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति, विशेषेष्वपि बहुत्वाद्–अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति, समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद् एकाकारप्रतीतेरनुभवात्।

---

१ विपरीतमेव सदा सखे, सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥१॥ इत्युत्तरार्द्धं। २ स्त्री जरातुरा तारुण्यम् मवीशा च यथा मनेन प्रोच्यते, तत्तुल्यं मवज्ञानम्।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताऽध्यारोपात् सामान्यादिष्वपि सत् सदित्यनुगम इति चेत्, तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद्, द्रव्यादिष्वपि सत्ताऽध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः । असति मुख्येऽध्यारोपस्याऽसम्भवाद्–द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत्, न, विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् ।

सामान्यादिषु बाधकसम्भवाद्--न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययः, द्रव्यादिषु तु तदभावाद् मुख्य इति चेद् : ननु किमिदं बाधकम् ? । अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे–अनवस्था ; विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे--स्वरूपहानिः ; समवायेऽपि सत्ताकल्पने--तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराऽभाव इति बाधकानीति चेत्, न ; सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु? ; तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताऽभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः ; स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् ; निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकार उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाऽभावप्रसङ्गः ; इति बाधकाऽभावात् तेष्वपि द्रव्यादिवद् मुख्य एव सत्तासम्बन्धः ; इति

१ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ इति नियमः ।

स्वार्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम्।

किञ्च, तैर्वादिभिर्या द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्यते। तथाहि—यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्युः। सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्, असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम्?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः। स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्, तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन?। सत्तायोगात् प्राग् भावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात् तु सन्निति चेत्, वाङ्मात्रमेतत्, सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तस्मात् सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते?।

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनाऽऽत्मनः सकाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन—चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव, नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्, न, समवायस्यैकत्वात्, नित्यत्वात्, व्यापकत्वाच्च, सर्वत्र वृत्तेरविशेषात्, समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः। यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः, एवं ज्ञानमप्यात्मनि

समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशाऽऽपत्तेरनित्यत्वाऽऽपत्तिः।

अथास्तु समवायेन ज्ञानाऽऽत्मनोः सम्बन्धः; किन्तु स एव समवायः केन तयोः संबध्यते?। समवायान्तरेण चेद्; अनवस्था। स्वेनैव चेत्; किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा?। अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्यादात्मानं, परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो-यदात्मानं, ज्ञानाऽऽत्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्; ज्ञानाऽऽत्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ संबध्येते?। किञ्च, प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न जाघटीति, यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यं, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयाऽत्यन्तं भेदोऽभ्युपगम्यते; तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता?; तदभावे च स्वपरप्रकाशकस्वभावताभणितिर्निर्मूलैव।

यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटादीनामपि तदनुषज्यते; भेदाऽविशेषात्। अपि च, तौ स्वपरसम्बन्धनस्वभावौ समवायाद् भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा?। यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः?; सम्बन्धनिबन्धनस्य समवायान्तरस्याऽनवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाऽभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव; न तौ; तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवदिति। किञ्च, यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं

चिनाऽप्युपपन्ना, तथा इहास्माभिः ज्ञानमित्ययमपि प्रत्यक्षं चिनैव चेदुच्यते, तदा को दोषः ?

अथात्मा कर्ता, ज्ञानं च करणं, कर्तृकरणयोश्च वर्धकिवासीवद् भेद एव प्रतीतः, तत्कथं ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदः ?, इति चेत् । न; दृष्टान्तस्य वैषम्यात् । वासी हि बाह्यं करणं, ज्ञानं चाऽऽभ्यन्तरं, तत्कथमनयोः साधर्म्यम् ? न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिकाः—

"करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः । यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा" ॥१॥

यदि हि किञ्चित्साधर्म्यमात्रमेकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमस्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते, अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपादिव चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात्, तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति ।

अपि च, साध्यविकलोऽपि वासिवर्धकिदृष्टान्तः, तथाहि—नायं वर्धकिः—'काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्ये' इत्येवं वासिग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति, किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा, तथा परिणामे च वासिरपि तस्य काष्ठस्य घटने व्याप्रियते, पुरुषोऽपि । इत्येवं लक्षणैककार्यसाधकत्वाद् वासिवर्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते, तत्कथमनयोर्भेद एव ?, इत्युच्यते ।

एवमात्माऽपि– 'विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि' इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वाऽर्थं व्यवस्यति, ततश्च ज्ञानाऽऽत्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव। एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं, आहोस्विद् विषये ?, इति वाच्यम्। आत्मनि चेत्–सिद्धं नः समीहितम्। विषये चेत्–कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते ?। अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवः, तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि ? ; तद्भेदाऽविशेषात्।

अथ ज्ञानाऽऽत्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभावः, इति चेत् ; ननु यथा– सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र अभेदे यथा कर्तृकरणभावः, तथाऽत्रापि। अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्, वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम् ? ; न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम् ; तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव। किञ्च, चैतन्यमितिशब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः—चेतनस्य भावश्चैतन्यम्; चेतनश्चाऽऽत्मा त्वयाऽपि कीर्त्यते ; तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम्। यच्च यस्य स्वरूपं, न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हति; यथा वृक्षाद् वृक्षस्वरूपम्।

अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसम्बन्धात्, न स्वतः ; तथाप्रतीतेः, इति चेत्;

तदयुक्तम्। यतः-प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निराबाधमुपयोगाऽऽत्मक एवाऽऽत्मा प्रसिद्ध्यति; न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं-चेतनायोगाच्चेतनः, अचेतने वा मयि-चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति, ज्ञाताऽहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः। भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत्। न, कथञ्चित् तादात्म्याऽभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात्। यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी। उपचारस्य तु बीजं-पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः, उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। तथा चाऽऽत्मनि ज्ञाताऽहमिति प्रतीतिः कथञ्चित् चेतनाऽऽत्मतां गमयति, तामन्तरेण ज्ञाताऽहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात्, घटादिवत्, न हि घटादिरचेतनाऽऽत्मको ज्ञाताऽहमिति प्रत्येति। चैतन्ययोगाऽभावाद्-असौ न तथा प्रत्येतीति चेत्, न, अचेतनस्यापि चैतन्ययोगात् चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात्, इत्य चेतनत्वं सिद्धम्-आत्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति, न पुनरिच्छया-चैतन्यस्वरूपताऽस्य स्वीकरणीया।

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतो-र्भेदाऽभावानुषङ्गः। तदसत्, यतो ज्ञानवानहमिति नाऽऽत्मा भवन्मते प्रत्येति, जडस्यैकान्तस्य

त्वात् , घटवत् । सर्वथा जडश्च स्याद्-आत्मा , ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्याद्-अस्य; विरोधाऽभावात्; इति मा निर्णैषीः । तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो न-अगृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे , विशेष्ये चाऽऽत्मनि जातूत्पद्यते ; स्वमतविरोधात् ; " नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः " इति वचनात् ।

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्-कुतस्तद्ग्रहीतिः ? । न तावत् स्वतः ; स्वसंवेदनाऽनभ्युपगमात् । स्वसंविदिते ह्यात्मनि , ज्ञाने च, स्वतः सा युज्यते ; नान्यथा ; सन्तानान्तरवत् । परतश्चेत्; तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं, नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम् ; इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः ? । तदेवं नाऽऽत्मनो जडस्वरूपता संगच्छते; तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम् ।

तथा यदपि- न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि-सन्तानत्वादिति ; तत्राभिधीयते- ननु किमिदं सन्तानत्वं-स्वतन्त्रम्-अपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयाऽपरापरोत्पत्तिर्वा ? । तत्राऽऽद्यः पक्षः-सव्यभिचारः ; अपरापरेषामुत्पादुकानां घटपट-

१ जडस्वरूपताया अप्राप्तौ,

घटादीनां सन्तानत्वेऽप्यन्त्यमनुच्छिद्यमानत्वात्। अथ द्वितीयः पक्षः, तर्हि तादृशः सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः, तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति, अत्यन्ता-नुच्छेदश्च भविष्यति- विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात्, इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्य-नैकान्तिकोऽयम्। किञ्च, स्याद्वादवादिनां नास्ति कश्चिदत्यन्तमुच्छेदः, द्रव्यरूपतया स्थास्नूनामेव सर्वभावानामुत्पादव्ययशालित्वात्, इति विरुद्धश्च। इति नाभिमतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेद-रूपा सिद्धिः सिध्यति।

नापि "न ह वै सशरीरस्य" इत्यादेरागमात्, स हि-शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिक प्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः। मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिक मात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव, तत्कथं प्रतिषिध्यते? । आगमस्य चायमर्थः- सशरीरस्य- गति चतुष्टयान्यतमस्थानवर्तिन आत्मनः, प्रियाप्रिययोः परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोः, अपहति रभावो नास्तीति, अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्; (परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणा दवसीयते)। अशरीरं- मुक्तात्मानं (वा- शब्दस्यैवकारार्थत्वात्) अशरीरमेव; वसन्तं- सिद्धि-

क्षेत्रमध्यासीनं, प्रियाप्रिये- परस्परानुषक्ते सुखदुःखे, न स्पृशतः ।

इदमत्र हृदयम्- यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः, किन्तु केवलं सुखमेव ; दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाऽभावात् । सुखं त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव ; स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः ; अत एव चाऽशरीरमित्युक्तम् । आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः ; यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते—

"सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृताऽऽत्मभिः" ।१।

न चायं सुखशब्दो दुःखाऽभावमात्रे वर्तते-मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाऽभावात् ; अयं रोगाद् विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च ; दुःखाभावमात्रस्य-रोगाद् विप्रमुक्त इतीयतैव गतत्वात् ।

न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः ; को हि नाम-शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत; दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य- सुखदुःखयोरेकस्याभावे परस्यावश्यम्भावात् । अत एव त्वदुपहासः श्रूयते—

"वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम् । न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति" ॥१॥

सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरीतानन्दमम्लानज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः। यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्, तदलमपवर्गेण, संसार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तरान्तराऽपि दुःखकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभूयते, चिन्त्यतां तावत्– किमल्पसुखानुभवो भव्यः, उत सर्वसुखोच्छेद एव ? ।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्, ते ह्येवं विवेचयन्ति– संसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति, दुःखं चावश्यं हेयम्, विवेकहानं[१] चानयोरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशकम्, अत एव द्वे अपि त्यज्येते, अतश्च संसाराद् मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्यात्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्राऽपि त्यक्ता, न तु तस्याः कृते दुःखभार इयान् व्यूढ इति।

तदेतत्सत्यम्, सांसारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद् दुःखरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षूणां तज्जिहासा, किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवसिद्धमेव, तद् यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति, ततो मोक्षो दुःखरूप एवाऽऽपन्न इत्यर्थः। ये अपि विषमधुनी एकत्र सम्पृक्ते त्यज्येते, ते अपि सुखविशेषलिप्सयैव। किञ्च, यथा प्राणिनां

[१] विवेकेन पृथक्त्वेन दुःखस्य त्यागः।

इत्यागमात्। केवलं तु सर्वद्रव्यपर्यायगतक्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वात्–अस्त्येव मोक्षावस्थायाम्, सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति, तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात्। यत्तु निरतिशयमक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं, तच्च बाढं विद्यते। दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात् तदुच्छेदात् तदुच्छेदः।

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वात् धर्मस्य चोच्छेदात् तदपि न युज्यते, "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्, वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वात् भवतु तदुच्छेदः, न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात्, तस्य च समूलकाषं कषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव; कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नः, दानादिलब्धिवत्; न च क्वचिद् उपयुज्यते, कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरपर्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव, तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव, तस्य च मोहक्षयानन्तरमेव क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः ॥ ८ ॥

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमप्यपलप्य, तादृक्कुशास्त्रशस्त्रसंपर्कविनष्टदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते, अतस्तत्रोपालम्भमाह—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥९॥

यत्रैव- देशे, यः- पदार्थः; दृष्टगुणो, दृष्टाः- प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूताः, गुणाः- धर्मा यस्य स तथा; स पदार्थः, तत्रैव- विवक्षितदेश एव, उपपद्यते (इति क्रियाऽध्याहारो गम्यः) (पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात् तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः)। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति- कुम्भादिवदिति- घटादिवत्; यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते, तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते, नान्यत्र; एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते, न बहिः, तस्मात् तत्प्रमाण एवायमिति। यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः; तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलाः, तेषां च वैश्रसिक्या, प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति। अत एवाह- निष्प्रतिपक्षमेतदिति एतद् निष्प्रतिपक्षं- बाधकरहितम्; न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

ननु मन्त्रादीनां भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत

इत्यपि वाचकमिति चेत् । नैवं वोचः , स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः , किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम् , तासां चाऽऽकर्षणीयोच्चाटनीयाऽऽदिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः ? । न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते– तथापीत्यादि , तथापि– एवं निःसपत्ने व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे , अतत्त्ववादोपहता. ( अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात् ) कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताऽऽप्ताऽऽभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाऽऽभासप्ररूपणेनोपहताः व्यामोहिताः , देहाद् बहिः– शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे, आत्मतत्त्वम्– आत्मस्वरूपम् , पठन्ति शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते । इत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्– आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणाऽनुपलब्धेः , यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति, यथा घटः , तथा चायम् , तस्मात् तथा , व्यतिरेके– व्योमादि । न चायमसिद्धो हेतुः– कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वाऽनभ्युपगमात् । तथा च भट्ट श्रीधरः– " सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् , नान्यत्र, शरीरस्योपभोगाऽऽयतनत्वात् , अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति " ।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणः , तच्च– सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं, सर्वव्यापकं च, कथमि

तरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनाऽऽदीनि तेनोत्पाद्यन्ते ? । गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते, अतोऽनुमीयते सर्वगत आत्मेति । नैवम् ; अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाऽभावात् । अथास्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत् , न ; तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः ; दहनस्य दहनशक्तिवत् । साऽप्यदृष्टकारिता चेत् , तर्हि जगत्त्रयवैचित्र्यसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां, किमीश्वरकल्पनया? ; तन्नायमसिद्धो हेतुः । न चानैकान्तिकः– साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराऽभावात् । नापि विरुद्धः– अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात् । आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनाऽपि तत्रैव भाव्यम् ; इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा ।

अन्यच, त्वयाऽऽत्मनां बहुत्वमिष्यते ; “ नानाऽऽत्मानो व्यवस्थातः ” इति वचनात् । ते च व्यापकाः , ततस्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रितशुभाशुभकर्मणामपि परस्परं सङ्करः स्यात् । तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेद् , इतरस्याऽशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत । अन्यच, एकस्यैवात्मनः स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं,

१ जन्ममरणादेः पार्थक्यात् । २ परम्परानुरोधे इत्यपि पाठः । ३ परस्परानुप्रवेशे ।

परोपार्जिताऽशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः । अथ स्वोपार्जितमेव भोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगः, तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनात् बहिर्निष्क्रम्य वह्निस्पर्शज्वलनादिकं करोति ?, इति चिन्त्यमेतत्।

आत्मनां च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः, सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरानुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदन्तरानुप्रवेशे— तस्याप्यकर्तृत्वाऽऽपत्तिः, न हि क्षीरनीरयोरन्योऽन्यसम्बन्धे, एकतरस्य पानादिक्रिया— अन्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्च, आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमान् नायं दोष इति चेत्, ननु स भोगायतनं सर्वाऽऽत्मना अवष्टभ्नीयात्, एकदेशेन वा ?। सर्वाऽऽत्मना चेत्— अस्मदभिमतात्मस्वीकारः। एकदेशेन चेत्— सावयवत्वप्रसङ्गः, परिपूर्णभोगाऽभावश्च।

अथाऽऽत्मनो व्यापकत्वाऽभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाऽभावात्— आद्यकर्माऽभावः, तदभावात्— अन्त्यसंयोगस्य, तन्निमित्तशरीरस्य, तेन तत्सम्बन्धस्य चाऽभावात्— अनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्; यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमाऽसम्भवात्, अयस्कान्तं प्रति— अयसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्याऽऽकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्या

ऽप्याकर्षणे— तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गाद् न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्याद् ?, इति चेत्; संयुक्तस्याप्याकर्षणे— कथं स एव दोषो न भवेत् ?; आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात्। अथ तद्भावाऽविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति; तदितरत्रापि तुल्यम्।

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिः, तथापि सावयवं शरीरम्; प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्; तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः; कार्यत्वे चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत?; न तावद्विजातीयैः--तेषामनारम्भकत्वात्; न हि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैः--यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम्; पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात्; तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम्। तच्चाऽयुक्तम्; एकत्र शरीरेऽनेकाऽऽत्मनामात्माऽऽरम्भकाणामसम्भवात्; सम्भवे वा प्रतिसन्धानाऽनुपपत्तिः; न ह्यन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति; अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् विनाशः स्यात्; तस्माद्व्यापक एवाऽऽत्मा युज्यते, कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्, न; सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावद्-- असंख्येयप्रदेशाऽऽत्म-

पश्चात् । तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ[1]– " आकाशोऽपि सप्रदेशः, सकृत्सर्वमूर्ताभिसम्बन्धार्हत्वात् " इति । यच्चावयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु[2] भेदोऽस्ति, तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या । प्रदेशेष्ववयवव्यवहारात् – कार्यत्वं तु वक्ष्यामः ।

नन्वात्मनः कार्यत्वे घटादिवत् प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः, अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते, यथा– तन्तवः पटमिति चेत्, न वाच्यम् । न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगाऽऽरभ्यत्वं दृष्टम्, कुम्भकारादिव्यापारान्वितात् मृत्पिण्डात् प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वम्, तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव, ततश्चात्माऽपि स्यात् कार्यः । न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यस्योपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः, काष्ठे लोहलेख्यस्योपलम्भात् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्, प्रमाणबाधनमुभयत्रापि तुल्यम् । न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषक्तात् प्रतिसन्धानाऽभावोऽनुषज्यते, कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात् ।

१ हेमचन्द्रगुणचन्द्रौ   २ गन्धहस्तिनामकं दिगम्बराचार्यश्रीसमन्तभद्रस्वामिनिर्मितं चतुरशीतिसहस्रश्लोकसंख्यात्मकं तत्त्वार्थसूत्रस्योपरि महाभाष्यम्, इत्यादि[illegible] ।

प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम्; तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते?; अवस्थाभेदात्; अन्या ह्यनुभवावस्था, अन्या च स्मरणावस्था; अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वे तु स्याद्वादाऽऽख्यानं केन वार्यताम्?।

अथाऽऽत्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गात् शरीरेऽनुप्रवेशो न स्यात्; मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात्; ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत्; किमिदं मूर्तत्वं नाम?–असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा?। तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय, – संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः–व्याप्त्यभावात्; न हि यदसर्वगतं तद् नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति; मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसंभवात्। आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं, परममहत्त्वं, सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं चेत्युक्तत्वात्– मनसो वैधर्म्यात्. सर्वगतत्वेन प्रतिषेधनात्: अतो नात्मनः

१ सर्वैः मूर्तैः सह संयोगः। [illegible] २ [illegible] ३ सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं [illegible] आकाशं समानो देश [illegible] [illegible] सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं [illegible]

शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिः, येन निरात्मकं तत् स्यात्, असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत् प्रवेशाऽप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्।

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे- बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्?। किं तत्परिमाणपरित्यागात्, तदपरित्यागाद् वा?। परित्यागात् चेत्, तदा शरीरवत् तस्याऽनित्यत्वप्रसङ्गतः- परलोकाद्यभावानुषङ्गः। अथाऽपरित्यागात्। तन्न, पूर्वपरिमाणाऽपरित्यागे शरीरवत् तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्, युवशरीरपरिमाणाऽवस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशाऽसम्भवात्, विफणावस्थोत्पादे सर्पवत्, इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते, पर्यायतस्तस्याऽनित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात्।

अथाऽऽत्मनः कायपरिमाणत्वे-तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्गः, इति चेत्-कः किमाह? शरीरस्य खण्डने कथञ्चित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात्, शरीरसम्बद्धाऽऽत्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयाऽऽत्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्, तच्चात्र विद्यत एव, अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्याऽऽत्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः,

तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः; अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्; शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत्।

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद्?, इति चेत्; एकान्तेन छेदाऽनभ्युपगमात्; पद्मनालतन्तुवत् छेदस्यापि स्वीकारात्; तथाभूतादृष्टवशात् तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवाऽऽत्माऽङ्गीकर्त्तव्यः, न व्यापकः। तथा च—आत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु व्यापकं—न तत् चेतनम्, यथा व्योम; चेतनश्चात्मा, तस्माद् न व्यापकः; अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत्पुनरष्टसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्, तत् कादाचित्कम्; इति न तेन व्यभिचारः; स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम्। इति काव्यार्थः ॥ ९ ॥

वैशेषिकनैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम्। पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति सांप्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थानां सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमा-

प्रकृततया अस्यन्तमनुपादेयत्वात् तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह–

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन्।
मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो! विरक्तो मुनिरन्यदीयः ॥१०॥

व्याख्या– अन्ये– अविज्ञातस्याद्वादसारतयाऽनुपादेयनामानः परे, तेषामयं शास्तृत्वेन संबन्धी– अन्यदीयो मुनिः– अक्षपादऋषिः, अहो! विरक्तः– अहो! वैराग्यवान्। (अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति)। (अन्यदीय इत्यत्र "ईयकारके" ॥ ३ । २ । १२१ ॥ इति दोऽन्तः)। किं कुर्वन्नित्याह– परमर्म भिन्दन्– (जातावेकवचनप्रयोगात्) परमर्माणि व्यथयन् 'यैरुपहता तमप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणि, इति पारिभाषिकी संज्ञा, ततः उपचारात् साध्यसत्त्वस्य साधनाऽव्यभिचारितया प्राणभूतं साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म। कस्मात् तद्भिन्दन्?, मायोपदेशाद्धेतोः, माया– परवञ्चनम्, तस्या उपदेशेन – छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्यः प्रतिपादनं, तस्मात्। ("गुणादस्त्रियां नवा" ॥ २ । २ । ७७ ॥ इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी)।

कस्मिन् विषये मायामयमुपदिष्टवान्?, इत्याह–अस्मिन्–प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे, जने–तत्त्वातत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया प्राकृतप्राये लोके। कथम्भूते?, स्वयम्– आत्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव, विवादग्रहिले– विरुद्धः– परस्परकक्षीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः, वादो– वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—

'लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनाऽमहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः''।१।

तेन ग्रहिल इव– ग्रहगृहीत इव, विवादग्रहिलः, तत्र। यथा - ग्रहापस्मारपरवशः पुरुषो यत्किञ्चनप्रलापी स्यात्– एवमयमपि जन इति भावः।

तथा, वितण्डा- प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम्; वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः; "अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते" इति हि न्यायवार्त्तिकम्। वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं-वितण्डा; तत्र यत्पाण्डित्यम्–अविकलं कौशलं तेन कण्डूलमिव कण्डूलं, मुखं-लपनं यस्य सः तथा तस्मिन्। कण्डूः– खर्जुः, कण्डूरस्यास्तीति,

१ वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिपक्षप्रतियोग्यन्याय प्रतिपक्षः। कोऽर्थः। वादिप्रतिपक्षप्रतिपक्षो वैतण्डिकस्य साधन एवेति॥

कण्डूलम् , (सिध्मादित्वात् मत्वर्थीयो लप्रत्यय )। यथा किलान्तर्जपबहुकृमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुमान् व्याकुलतां कलयति, एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासम्बद्धप्रलापव्यापलमाकलयन् कण्डूलमित्युपपर्यते ।

एवं च स्वरसत एव स्वस्याभिमतमतव्यवस्थापनाविसस्थुलो वैतण्डिकलोक , तत्र च तस्य रमाऽऽस्मृतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशाभेत् सहाय समजनि, तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलति हुताशन इव कृतो घृताऽऽहुतिप्रक्षेप इति , तैश्च भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरसाद्दशोपदेशदानमपि तस्य मुनेः कारुणिकत्वकोटावारोपितम् । तथा चाहुः—

"दुःशिक्षितकुतर्काशलेशवाचालिताननाः । शक्याः[1] किमन्यथा जेतुं वितण्डाऽऽटोपमण्डिताः ? ।१।

गतानुगतिको लोक , कुमार्गं मत्प्रतारित । मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनि "।२।

कारुणिकत्वं च वैराग्याद् न भिद्यते , ततो युक्तमुक्तम्—अहो ! विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम् ।

अथ मायोपदेशादिति सूत्रार्थो वितन्यते, – अक्षपादमते किल षोडश पदार्था , "प्रमा-

1 'पण्डिताः' इत्यपि पाठः ।

णप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः" इति वचनात्। न चैतेषां व्यस्तानां समस्तानां वा अधिगमो निःश्रेयसाऽवाप्तिहेतुः। न ह्येकेनैव क्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण–मुक्तिर्युक्तिमती; असमग्रसामग्रीकत्वात्; विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत्।

न च वाच्यं–न खलु वयं क्रियां प्रतिक्षिपामः, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं–तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति; न ह्यमीषां संहते अपि ज्ञानक्रिये– मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते; वितथत्वात् तज्ज्ञानक्रिययोः। न च वितथत्वमसिद्धम्;–विचार्यमाणानां षोडशानामपि तत्त्वाऽऽभासत्वात्। तथाहि–तैः प्रमाणस्य तावद् लक्षणमित्थं सूत्रितम्– "अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्" इति। एतच्च न विचारसहम्; यतोऽर्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रं, तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं, तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं, न चेन्द्रियसन्निकर्षादि। यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति, स तत्करणम्; न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः। साधकतमं हि करणम्; अव्यवहितफलं च तदिष्यते; व्यवहितफलस्यापि करणत्वे

१ यत्र हि प्रमात्रा व्यापारिते सत्यवश्यं कार्योत्पत्तिरन्यथा पुनरनुत्पत्तिरेव, तत्तत्र साधकतमम्। यथा छिदिक्रियाया दात्रम्। तथा चोक्तं— क्रियायाः परिनिष्पत्ति र्यद्व्यापारादनन्तरम्। विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम्॥ १॥"

दुग्धभोजनाऽऽदेरपि तथाप्रसङ्गः । तस्मात् ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्, अन्यत्रोपचारात्[1] । यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तम्– "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्" इति । तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति । तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव; इति न तत् सम्यग् लक्षणम् । "स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्"[2] इति तु तात्त्विकं लक्षणम् ।

प्रमेयमपि तैः – आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम् । तच्च न सम्यग्, यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानाम्–आत्मन्येवान्तर्भावो युक्तः, संसारिण आत्मनः कथंचित् तदविष्वग्भूतत्वात् । आत्मा च–प्रमेय एव न भवति, तस्य प्रमातृत्वात् । इन्द्रियबुद्धिमनसां तु–करणत्वात् प्रमेयत्वाऽभावः । दोषास्तु–रागद्वेषमोहाः, ते च प्रवृत्तेर्न पृथग् भवितुमर्हन्ति, वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात्, रागादिदोषाणां च–मनोव्यापाराऽऽत्मकत्वात् । दुःखस्य, शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च–फल एवान्तर्भावः, "प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं

१ कारणे कार्योपचारात् कार्ये कारणोपचाराद्वा प्रमाणभूतेन पक्षहेतुवचनात्मकेन परार्थानुमानेन व्यभिचारवारणाय अन्यत्रोपचारादित्युक्तम् । २ प्रमाणनयतत्त्वालोक० प्र० प० सू० २ ।

मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम् " इति जयन्तवचनात् । प्रेत्यभावापवर्गयोः–पुनरात्मन एव परिणामान्तराऽऽपत्तिरूपत्वाद् , न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम्; तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम् , " द्रव्यपर्यायाऽऽत्मकं वस्तु प्रमेयम् " इति तु समीचीनं लक्षणम् ; सर्वसंग्राहकत्वात् । एवं संशयादीनामपि तत्त्वाऽऽभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुप्रेक्षणीयम् ; अत्र तु–प्रतीतत्वाद् , ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम् । न्यक्षेण त्वत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम् ; तच्चावतार्यमाणं पृथग् ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम् ।

तदेवं प्रमाणाऽऽदिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाऽऽभासत्वे, प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां–मायोपदेशादिति पदेनोपक्षेपः कृतः । तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः–छलम् । तत् त्रिधा–वाक्छलं, सामान्यच्छलम्,उपचारच्छलं चेति । तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो–वाक्छलम् , यथा –नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते, परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बलाः ? , इति । संभावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वाऽऽरोपणेन तन्निषेधः–सामान्यच्छलम् ; यथा–अहो! नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसंपन्न इति

ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे, कश्चिद् वदति–संभवति ब्राह्मणे, विद्याऽऽचरणसंपदिति, तच्छलवादि-
ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसंपद् भवति, व्रात्येऽपि
सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम्–उपचा-
रच्छलम्; यथा–मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते, परः प्रत्यवतिष्ठते–कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति?, मञ्च-
स्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति।

सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाऽप्रतिभासे हेतुप्रतिबि-
म्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं–जातिः, दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादि-
प्रत्यवस्थानभेदेन, यथा–साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रति-
दृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्याऽनित्यकार्यसमाः।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं–साधर्म्यसमा जातिर्भवति, – अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्,
घटवदिति प्रयोगे कृते, साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्– नित्यः शब्दो निरवयवत्वाद्, आकाश-
वत्, न चास्ति विशेषहेतुः–घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनराकाशसाधर्म्याद्
निरवयवत्वाद् नित्य इति। वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं–वैधर्म्यसमा जातिर्भवति, –अनित्यः शब्दः,

कृतकत्वाद्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे,स एव प्रतिहेतु वैधर्म्येण प्रयुज्यते-नित्यः शब्दो, निरवयवत्वात्; अनित्यं हि सावयवं दृष्टम् घटादीति ; न चास्ति विशेषहेतुः-घटसाधर्म्यात् कृतकत्वाद नित्यः शब्दः , न पुनस्तद्वैधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति। उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानम् उत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः ; -तत्रैव प्रयोगे, दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन् उत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते-यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु; न चेद् मूर्तः , घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति। अपकर्षस्तु-घटः कृतकः सन्-अश्रावणो दृष्टः , एवं शब्दोऽप्यस्तु ; नो चेद् घटवदनित्योऽपि माभूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति। इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः ;एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः । अत्र त्वनुपयोगित्वाद् न लिखिताः।

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च-निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः-साधनाऽऽभासे साधनबुद्धिः ,दूषणाऽऽभासे च दूषणबुद्धिरिति। अप्रतिपत्तिः- साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम्। तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् ; तद्यथा-प्रतिज्ञाहानिः , प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः,

१ निरवयवत्वरूप एव २ घटरूपदृष्टान्तवैधर्म्येण ।

प्रतिज्ञासंन्यासः , हेत्वन्तरम् , अर्थान्तरं, निरर्थकं, अविज्ञातार्थम् , अपार्थकम् , अप्राप्तकालं न्यूनम् , अधिकं, पुनरुक्तम् , अननुभाषणम् , अज्ञानम् , अप्रतिभा, विक्षेपः , मतानुज्ञा , पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः , अपसिद्धान्तः , हेत्वाभासाश्च ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम्;- यथाऽनित्यः शब्दः , ऐन्द्रियकत्वात् , घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् , परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात्-सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति, स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति ,- अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते, तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते, यदि ब्रूयात्- युक्तं यत् सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम् , तद्धि सर्वगतम् , असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्शेषाणि , इह तु न लिखितानि, पूर्वहेतोरेव । इत्येवं मायाशब्देनात्र च्छलादित्रयं सूचितम् । तदेवं परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतोऽक्षपादर्षेर्वैराग्यव्या-

वर्णनं, तमसः प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम् ? ॥ इति काव्यार्थः ॥ १० ॥

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरस्सरं निरस्यन्नाह—-

**न धर्महेतुर्विहिताऽपि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।**
**स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि स्फुरितं परेषाम् ॥११॥**

व्याख्या– इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते– या हिंसा गार्द्धयाद् , व्यसनितया वा क्रियते ; सैवाऽधर्मानुबन्धहेतुः ; प्रमादसंपादितत्वात् ; शौनिकलुब्धकादीनामिव। वेदविहिता तु हिंसा , प्रत्युत धर्महेतुः ; देवताऽतिथिपितॄणां प्रीतिसंपादकत्वात् , तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसम्पादकत्वमसिद्धम् ; कारीरीप्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः , स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः। एवं त्रिपुरार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या। अतिथिप्रीतिस्तु--

१ मीमांसका द्विधा — पूर्वमीमांसावादिनः , उत्तरमीमांसावादिनश्च। तेषु पूर्वमीमांसावादिनामभिमतम् । २ युक्तिपूर्वकम्। ३ कं तोयमृच्छतीति काके मेघः , तमीरयति इति कारीरी, वृष्टिफलको यागविशेषः । ४ ग्रन्थविशेषे ।

मधुपर्कसंस्काराऽऽदिसमारम्भादत्र प्रत्यक्षोपलब्धेरेव । पितॄणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धाऽऽदिविधा-
नेन प्रीणिताऽऽत्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् , स च
देवप्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधाऽऽदिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविषयस्तु– ' महोक्षं
वा महाजं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत् '' इत्यादिः । पितृप्रीत्यर्थस्तु , " द्वौ मासौ मात्स्यमांसेन
त्रीन् मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु" ॥ १ ॥ इत्यादिः ।

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याऽऽचार्यः प्रतिविधत्ते–न धर्मेत्यादि विहिताऽपि– वेदप्रति-
पादिताऽपि , आस्तां तावदविहिता , हिंसा–प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा , न धर्महेतुः–न धर्मानु-
बन्धनिबन्धनम् । यतोऽत्र प्रकट एव व्याहतविरोधः । तथाहि– 'हिंसा चेद्, धर्महेतुः कथम्' ?

१ दध्ना तु मधु संयुक्तं मधुपर्कम् । २ अश्वो मेध्यते हिंस्यते यत्रेत्यश्वमेधो यज्ञविशेषः । एवमन्यत्रापि । ३ प्राघूर्णिकश्रोत्रियाय । ४ षण्मासांश्छागमांसेन, पार्षतेन हि सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवेण नवैव तु । २ । दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराहमहिषामिषैः । शशकूर्मस्य मांसेन, मासानेकादशैव तु । ३ । संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन वा वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी । ४ । इति पूर्णपाठः । ५ हिंसाधर्मयोः परस्परविरोधात् ।

'धर्महेतुश्चेद्--हिंसा कथम्' ? "श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्" इत्यादिः । न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति । हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः ; नचायं निरपायः ; यतो--यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम् ; यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः । न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् ; तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात् ।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टामेव ; विशिष्टा च सैव- या वेदविहिता इति चेत्-- ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाऽभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाऽभावात् सुगतिलाभेन वा ? । नाद्यः पक्षः- प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात् । न द्वितीयः- परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयाऽऽर्त्तध्यानाऽभावस्य वाङ्मात्रत्वात् ; प्रत्युत हा ! कष्टमस्ति- न कोऽपि कारुणिकः शरणम् ?, इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलताऽऽदीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात् ।

अथेत्थमाचक्षीथाः- यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनाऽऽत्मकोऽपि तनुतरपत्राऽऽदिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते ; यथा च मारणाऽऽत्मकमपि विषं मन्त्राऽऽदिसंस्कारविशिष्टं सद् गुणाय जायते ; यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् नहि दहति ।

एवं मन्त्राऽऽदिविधिसंस्कारात् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय। न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम्, तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तदेतत् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम्, वैषम्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात्। अयःपिण्डादयो हि पर्यायाऽन्तराऽऽपन्नाः[1] सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः, न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनाऽपि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनाऽनुत्पादादिरूपा भावान्तराऽऽपत्तिः प्रतीयते। अथ तेषां वधाऽनन्तरं देवत्वाऽऽपत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत्– किमत्र प्रमाणम्? । न तावत् प्रत्यक्षम्–तस्य संबद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्– "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" इति वचनात्। नाप्यनुमानम्– तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलम्भात्। नाप्यागमः–तस्यापि विवादाऽऽस्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वात्।

अथ भवतामपि जिनाऽऽयतनाऽऽदिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते? । वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्, परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो,

१ हिंस्यमानानाम्। २ देवत्वप्राप्तिः।

यत्राऽनन्योपायत्वेन यतनयाऽप्रकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेना-ऽपरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितरः । भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु यमनियमादिषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीकं कर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः ; एवं च यं कञ्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते ।

न च जिनाऽऽयतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः । तथाहि—तद्दर्शनाद् गुणाऽनुरागितया भव्यानां बोधिलाभः, पूजाऽतिशयविलोकनाऽऽदिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः, ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति । तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः—

“ पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिंतो ।
तव्विसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥ १ ॥

॥९२॥

---

१ प्रत्ययवपवम् । २ कृपाऽऽर्त्तान् । ३ बोधिः सम्यक्त्वम्, प्रेत्य जिनधर्मावाप्तिर्वा । ४ चारित्रावाप्तिः । ५ पञ्चलिङ्गीकारः श्रीजिनपतिसूरिः । ६ पृथिव्यादीनां यद्यपि खलु भवति विनाशो जिनालयेभ्यः । तद्विषयाऽपि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥ १ ॥

एएहिंतो बुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई। इत्तो निव्वाणगया अबाहिया आसवनिरोहा ॥२॥
तेणेसिं सिरवेढो इव सुविकिरिय व सुप्पउत्ताओ। परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगे वि" ॥३॥

वैदिकवधविधाने तु न कश्चित्पुण्योपार्जनानुगुणं गुणं पश्यामः। अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशाऽऽदिप्रदानेन पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत्। न; पवित्रसुवर्णाऽऽदिप्रदानमात्रेणैव पुण्योपार्जनसम्भवात्, कृपणपशुगणप्राणव्यपरोपणसमुत्थं मांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति। अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियायाः फलं, किन्तु भूत्यादिकम्, यदाह श्रुतिः— " श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः " इत्यादि। एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव, भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यमानत्वात्। अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनामस्ति सद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत्, वाङ्मात्रमेतत्, प्रमाणाऽभावात्, नहि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति। अथास्त्यागमाऽऽख्यं प्रमाणम्, यथा— " औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा। यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः " ॥ १ ॥

१ एतेभ्यो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन्। इतो निर्वाणगता अबाधिता आस्रवनिरोधात् ॥२॥ तेनैषां शिरोवेष्ट इव सुविक्रिया इव सुप्रयुक्ता। परिणामसुन्दरैव चेष्टा तेषां बाधयोगेऽपि ॥३॥ २ इत्यत्र।

इत्यादि । नैवम् ; तस्य पौरुषेयाऽपौरुषेयविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात् ।

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम् ; यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः ; शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात् । तथा च पठन्ति पारमर्षाः—

"यूपं छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ?" ॥ १ ॥

किञ्च, अपरिचिताऽस्पष्टचैतन्याऽनुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते । अथ 'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः' इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत् । न ; इह लोके विवाहगर्भाऽऽधानजातकर्माऽऽदिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद्—अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते । दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहाऽऽदिभ्योऽनन्तरं वैधव्याऽल्पायुष्कतादारिद्र्याऽऽद्युपद्रवविधुराः[१] परःशताः ; अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्वि-

१ विह्वलाः

परीताः। अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत्। न, संशयाऽनिवृत्तेः। किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवादः, किंवा मन्त्राणामसामर्थ्यात्?, इति न निश्चयः, तेषां फलेनाविनाभावाऽसिद्धेः।

अथ यथा युष्मन्मते "आरोग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु"[1] इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते?, अतश्च विवाहाऽऽदौ नोपालम्भावकाशः, इति चेत्। अहो! वचनवैचित्री, यथा वर्तमानजन्मनि विवाहाऽऽदिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहाऽऽदीनामेव प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धाने प्रसज्यते, एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्तिः, तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः, इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्य पर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम्। आरोग्याऽऽदिप्रार्थना तु असत्याऽमृषाभाषा[2] परिणामविशुद्धिकारणत्वान्न दोषाय, तत्र हि—भावाऽऽरोग्याऽऽदिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षणभावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वात्—उत्तमफलम्, तद्विषया



१ आरोग्यं बोधिलाभं समाधिवरमुत्तमं ददतु। इति छाया नामस्तवसूत्र [illegible]। २ व्यवहारभाषा।

च प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया ? । न च तत्रान्यपरिणामविशुद्ध्या तत्फलं न प्राप्यते ; सर्वेषामपि भावशुद्धेरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति ।

न च वेदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता ; सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिमार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात् । तथा च तत्त्वदर्शिनः पठन्ति—

"देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा । घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्" ॥१॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे । हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति" ॥ १ ॥

तथा 'अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु' छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थः, इति । व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि । स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते । असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥ २ ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः । शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि, विहितं बुधैः ॥ ३ ॥

१ संसारवृद्धिहेतोर्यज्ञादिरूपाद्धूममार्गाद्विपरीतो यमनियमादिः--अर्चिमार्गः ।

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः। स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्" ।४।
इत्यादि।

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम्। तदप्यसारम्, अबुधा एव हि पूजयन्ति तान्, न तु विवेकिनो बुधाः। अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम्, तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलम्भात्। यच्चाभिहितम्-देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषायेति; तदपि वितथम्, यतो देवानां सङ्कल्पमात्रोपनताभिमताऽऽहारपुद्गलरसाऽऽस्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदापर्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिग्रहीतौ, इच्छैव दुःसंभवा, औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात्। प्रक्षेपाऽऽहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः, न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम्, "चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात्। तथा च मृगेन्द्रः—

"शब्देतरत्वे, युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु। न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत्"॥ १॥
सेति देवता।

१ दश० २ यदि शब्देतरत्वं-मन्त्रमयत्वस्याद्यपरस्वरूपत्वं, स्यात्-देहस्वरूपं भवति, तदा भिन्नदेशस्थायिषु याज्ञिकेषु कथं सांनिध्यं कुरुते। मूर्तत्वात् सर्वत्र सांनिध्यस्यासंभवः।

हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्, तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम्। अपि च, योऽयं त्रेताग्निः–स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्; "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः। ततश्चोत्तममध्यमाऽधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः; तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते; तेऽपि तावदेकत्रैवाऽमत्रे भुञ्जते, न पुनरेकेनैव वदनेन। किञ्च– एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते, यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम्। सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते, यदा केनचिदेको देवः पूजाऽऽदिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दाऽऽदिना विराद्धः, ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसङ्करः प्रसज्येत। अन्यच्च, मुखं देहस्य नवमो भागः, तदपि येषां दाहाऽऽत्मकं, तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया।

यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलेऽव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवतानुग्रहहेतुक उक्तः– सोऽप्यनैकान्तिकः; क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात्। यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न त्वदाहिताऽऽहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः, किन्तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते, तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार्याणीच्छाव-

वशात् साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन् न साधयति, द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽदिसहकारिसामग्र्यपेक्षयैव कार्योत्पादस्योपलम्भात् । स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया प्राणिहिंसया ? ।

अथ छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम्, तत्र कः किमाह?, कासाञ्चित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यक्षीकारात् । केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो, न पुनस्तदुपभुक्त्या, निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु – तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति; अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात् । अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसंपन्नपक्वान्नाऽऽदिनाऽपि साध्या, तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकितामेव ख्यापयति ।

पितॄणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी, श्राद्धाऽऽदिविधानेनापि भूयसां सन्तानवृद्धेरनुपलम्भे, तदविधानेऽपि च केषाञ्चिद् गर्दभशूकराऽजादीनामिव सुतरां तद्दर्शनात्, ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव । ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण

सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते ; ते कथमिव तनयाऽऽदिभिरावर्जितं पिण्ड-मुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः ? । तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—

" मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेद् तृप्तिकारणम् । तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्द्धयेच्छिखाम् " ॥१॥

कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु ; तस्य तदन्यकृतत्वात् , जडत्वाद् , निश्चरणत्वाच्च ।

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत् । तन्न ; ते तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात् । एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति- विचाले एव विलीनं त्रिशङ्कुजातेन, किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव । अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत् , क इवैतत्प्रत्येतु ? ; विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात् । तद्वपुषि च तेषां सङ्क्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यते ; भोजनावसरे तत्संक्रमलिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात्, विप्राणा-

---

१ मध्य एव । २ पौराणिकमतेन त्रिशङ्कुर्नाम राजा वशिष्ठशापाच्चाण्डालो जातो विश्वामित्रं पुरोधाय कृतक-तुस्त्यक्तभूतलः शक्रकोपेन स्वर्गान्निवर्त्तितोऽन्तराल एव स्थितः , तस्मान्न द्यौरपि न भूरपि तस्योपयुक्त्यै तद्वत ॥

स्या॰म॰ ॥१०॥

मेव च तृप्ते साक्षात्करणात्। यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्ध्याद् भक्षयन्तः मेध्यायाः, इति मुधैव श्राद्धादिविधानम्। यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भक-विप्रलब्धानि-व्यन्तराऽऽदिकृतमेव निश्चेयम्।

यदप्युदितम्- आगमश्चात्र प्रमाणमिति। तदप्यप्रमाणम्, स हि- पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा?। पौरुषेयश्चेत्- सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा?। आद्यपक्षे- युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भवत्सिद्धान्तः—

“अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः”॥१॥

द्वितीयपक्षे तु- तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वाससम्भवः। अपौरुषेयश्चेत्- न संभवत्येव; स्वरूपनिराकरणात्, खरशृङ्गवत्। तथाहि- “उक्तिर्वचनमुच्यते” इति वेति पुरुषक्रियाऽनुगतं रूपमस्य, एतत्क्रियाऽभावे कथं भवितुमर्हति?। न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते, उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राऽऽशङ्कासम्भवात्। तस्माद् वचनं सर्वं पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत्, वचनात्मकश्च वेदः। तथा चाहुः—

॥१०॥

"तालवादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं चे:।
पुंसश्च तालवादिरतः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः?" ॥ १ ॥ इति।

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते; अन्यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य–श्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थः?, नियामकाऽभावात्;- ततो वरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वाऽपौरुषेयः, तथापि तस्य न प्रामाण्यम्– आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति। एवं च तस्याऽप्रामाण्ये, तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसाऽऽत्मको यागश्राद्धाऽऽदिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति।

अथ योऽयं 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः, सामान्यतो विधिरित्यर्थः; वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदम्; विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चाऽपवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वाद्– न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय; "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान्" इति न्यायात्। भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः; तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात्, ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादिग्रहणभणनाच्च। अपवादपदं

१ 'च' इत्यपि पाठ०। २ हिंसनानाम्। ३ अनिर्वाहे।

च याज्ञिकी हिंसा, देवताऽऽदिप्रीतेः पुष्टाऽऽलम्बनत्वात्। इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह–नोत्सृष्टमित्यादि ।

अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पदं डमरुकमणिन्यायेनोभयत्रापि सम्बन्धनीयम् । अन्यार्थमुत्सृष्टम्– अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्–उत्सर्गवाक्यम् , अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन, नापोद्यते– नाऽपवादगोचरीक्रियते । यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्याऽपवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नताऽऽदिव्यवहारवत् 'परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात् । यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाऽऽहारग्रहणमुत्सर्गः , तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावाऽऽपत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराऽभावे पञ्चकादियतनयाऽनेषणीयाऽऽदिग्रहणमपवादः , सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव । न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराऽभावोऽसिद्ध इति वाच्यम् ,

"सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाऽविरई" ॥ १ ॥ इत्यागमात् ।

---

१ सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेत् । मुच्यतेऽतिपातात् पुनर्विशुद्धिर्न चाविरतिः ॥ १ ॥

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्याञ्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं, तदेवाऽवस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम् —

" उत्पद्यते हि साऽवस्था देशकालाऽऽमयान् प्रति ।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं तु वर्जयेत् " ॥ १ ॥ इति वचनात् ।

यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं, क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः । एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम् । तथा च वैद्याः—

"कालाऽविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान्" ॥१॥

एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो, यश्च तत्रैवाऽवस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः—स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः । इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गाऽपवादयोरिति ।

भवतां चोत्सर्गोऽन्यार्थः, अपवादश्चान्यार्थः । " न हिंस्यात् सर्वभूतानि " इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिषेधार्थः ; अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः ; अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते ; ? तुल्यबलयोर्विरोध इति न्यायात् ; भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधने—अतिप्रसङ्गात् । न च वाच्यम्— वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ-

पयेति, तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात्, तदन्तरेणापि च प्रकारान्तरैरपि तत्सिद्धिभा-
वात्। गत्यन्तराऽभावे चापवादपक्षकक्षीकारः।

नाथ वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि। यदाह व्यासमहर्षिः–
"पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः। तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम्"॥ १॥

अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं वदता-
ऽर्थात्—तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितमेव। तथा च स एव "भावाग्निहोत्रे ज्ञानपालीत्यादि
श्लोकैः स्थापितवान्।

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति– स्वपुत्रेत्यादि। परेषां– भवत्प्रणीतवचन-
पराङ्मुखानां स्फुरितं– चेष्टितं, स्वपुत्रघातात् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि– निजसुतनिपातनेन
राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम्। यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुषः परुषाऽऽशयतया निजमङ्गजं व्यापा-
द्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते, न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति, एवं
वेदविहितहिंसया देवताऽतिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्येत। अत्र च
लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति– यथा तस्य दुराशयस्याऽसदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माण-

निर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव, न पुनस्तत्सिद्धिः ; एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवताऽऽदिपरितोषणे मनोराज्यमेव, न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्राऽऽदिदिवौकसां च तृप्तिः ; प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । इति काव्यार्थः ॥ १ ॥

सांप्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम् ; एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

**स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नाऽर्थकथाऽन्यथा तु ।**
**परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥**

बोधो- ज्ञानं, स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते-स्वस्य-आत्मस्वरूपस्य, अर्थस्य च-पदार्थस्य, योऽवबोधः-परिच्छेदस्तत्र, क्षम एव- समर्थ एव प्रतिभासते ; इत्ययोगव्यवच्छेदः। प्रकाशत इति क्रियया-अवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः-सर्वप्रकाशानां स्वार्थप्रकाशकत्वेन, बोधस्यापि तत्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह-नार्थकथाऽन्यथात्विति । अन्यथेति- अर्थप्रकाशनेऽविवादाद् , ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वाऽनभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् । अर्थकथा-पदार्थसंबन्धिनी वार्ता, सदसद्रूपा-

ऽऽत्मकं स्वरूपमिति यावत् । (तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, स चार्थरूपया सह योजित एव) यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनाऽऽत्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं, तेनाप्यपरमित्यनवस्था , ततो ज्ञानं– तावत् स्वावबोधव्यग्रतामग्नम् , अर्थस्तु– जडतया स्वरूपज्ञापनाऽसमर्थ इति को नामाऽर्थस्य कथामपि कथयेत् ?।

तथाऽपि–एवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि, परे– तीर्थान्तरीयाः, ज्ञानं– कर्मतापन्नम् , अनात्मनिष्ठ–न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम् , अस्वसंविदितमित्यर्थः , प्रपेदिरे– प्रपन्नाः । कुतः ? , इत्याह–परेभ्यो भयतः , परे– पूर्वपक्षवादिनः , तेभ्यः सकाशात् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसम्भावनासम्भवं यद्भयं, तस्मात् , तदाश्रित्येत्यर्थः ।

इत्यक्षरगमनिकां विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते– अत्रास्तावदिदं वदन्ति– यज् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः,

१ स्वप्रकाशकत्वं च स्वप्रकाशकमकत्वं तच्च स्वात्मनि क्रियायास्तरा निरवमसम्भाव 'गुणादिर्निगुणक्रिय' इति वचनात् । ज्ञानं चात्मनो विशेषगुणः , इति वैशेषिकाभ्यासमयमाहिति तात्पर्यम् ।

न च सुतीक्ष्णाऽप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा ; ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति। तदेतन्न सम्यक् ; यतः– किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते, ज्ञप्तिर्वा ? ।यद्युत्पत्तिः– सा विरुध्यताम् , नहि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे। अथ ज्ञप्तिः– नेयमात्मनि विरुद्धा ; तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात् ; प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोकस्य । अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशकोऽस्तु, आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः ?, इति चेत् ; तत्किं तेन वराकेणाऽप्रकाशितेनैव स्थातव्यम् , आलोकान्तराद् वाऽस्य प्रकाशेन भवितव्यम् ? । प्रथमे प्रत्यक्षबाधः ; द्वितीयेऽपि– सैवानवस्थाऽऽपत्तिश्च ।

अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः ; प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चेत्। चिरंजीव ; नहि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः ; ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयाऽपि तद्भाति , तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि

१ एकत्र पदार्थे एकक्रियानिरूपितकर्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधादित्यत्र योजनीयम्। २ ज्ञानं स्वं जानामीति वाक्यात् ज्ञानविषयकज्ञानवानहमिति शाब्दबोधतः ज्ञानस्यापि कर्मतया भानं भवतीति भावः।

कर्मतया प्रथित एव।

यत्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः–सोऽप्ययुक्तः, अनुभवसिद्धेऽर्थे विरोधासिद्धेः, घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवत् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात्। न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति, न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात्, उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था, अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे–अन्योन्याश्रयदोषः।

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत–यदि ज्ञानं न स्यात्, इत्यर्थापत्त्या तदुपलम्भ इति चेत्। न, तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेः–तदवस्थः परिभवः। तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयाऽपि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वसंविदितत्वम्।

१ परस्पराश्रयत्वम्-अन्योन्याश्रयत्वम्। २ 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र यथा दिवसाभोजक भोजनकृत स्थूलत्वविशिष्टदेवदत्तस्य रात्रिभोजनमन्तरा पीनत्वं नोपपद्यते इति पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनं कल्प्यते। तथैवात्र घटज्ञानमन्तरा घटप्राकट्यं नोपपद्यते इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानस्योपलम्भः (ज्ञानं) कल्प्यते।

भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः, यथा घटः।

तथैव सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे " सत्संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलम्भः " इत्येवंरूपा त्रिपुटीप्रत्यक्षकल्पना भट्टानां प्रयासफलैव।

यौगास्त्वाहुः– ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम्, ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत्। समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतानन्तरोत्पद्यमानमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनः स्वेन। न चैवमनवस्था, अर्थावसायिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति।

तदयुक्तम्– पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथाहि– विवादाऽऽस्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्। नचायं साध्यविकलो दृष्टान्तः, पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः।

व्यर्थविशेषणश्च तव हेतुः– समर्थविशेषणोपादानेनैव साध्यसिद्धेः– अग्निसिद्धौ धूमवत्त्वे

सति द्रव्यत्वादितिवद् , ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्येतावतैव गतत्वात् । न हीश्वरज्ञानादन्यत् स्वसंविदितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति, यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति क्रियेत, भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात् ।

अप्रयोजकश्चायं हेतुः– सोपाधित्वात् ; साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु–उपाधिरभिधीयते ; तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत् ; उपाधिश्चात्र जडत्वम् । तथाहि– ईश्वरज्ञानाऽन्यत्वे प्रमेयत्वे च सत्यपि यदेव जडं स्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते । स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणम् ; न च ज्ञानं जडस्वरूपम् ; अतः साधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य । साध्येन समव्याप्तिकत्वं चास्य स्पष्टमेव ,जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य, तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य क्वचिदप्यदर्शनात् ; इति ।

यच्चोक्तं " समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम् " इत्यादि । तदप्यसत्यम् ; इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरुत्पद्यमानयोः क्रमानुपलक्षणत्वाद् , इति । आशूत्पादात् क्रमानुपलक्षणमुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् , इति चेत् । तन्न; जिज्ञासाव्यवहितस्यार्थज्ञानस्योत्पादप्रतिपादनात् । न च ज्ञानानां जिज्ञासासमुत्पाद्यत्वं घटते ; अजिज्ञासितेष्वपि योग्यदेशेषु विषयेषु तदुत्पादप्रतीतेः ;

ज्ञान विषयक
॥११२॥

मथार्थज्ञानमयोग्यदेशम् , आत्मसमवेतस्यास्य समुत्पादात् । इति जिज्ञासामन्तरेणैवार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः । भवत्वेवं का नामेदं—को दोषः ? , इति चेत् , मन्वेवमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्य परज्ञानोत्पादप्रसङ्गः , तत्रापि चैवमेवापत्तम् । इत्यपरापरज्ञानोत्पादपरम्परायामेवात्मनो व्यापाराद् न विषयान्तरसञ्चारः स्यादिति । तस्मादर्थज्ञाने तदात्मबोधे प्रत्यमपेक्षितज्ञानान्तरव्यापारम् , यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भाविगोचरान्तरग्राहिधारावाहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम् । ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानम् , इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरज्ञेयता युक्तिं सहते । इति काव्यार्थः ।१२।

अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याऽपरपर्यायमायावशात् प्रतिभासमानत्वेन विश्वत्रयवर्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते, तन्मतमुपहसन्नाह—

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथाऽसती हन्त ! कुतः प्रपञ्चः ?।
मायैव चेदर्थसहा च,तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम्?।१३।

व्याख्या— तैर्वादिभिस्तात्त्विकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया—अविद्या प्रपञ्चहेतुः परिकल्पिता, सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गतिः । सती—सद्रूपा चेत् , तदा द्वयतत्त्वसिद्धिः—आत्म-

यत्रौ यस्य तद् द्वयं, तथाविधं यत् तत्त्वं--परमार्थः, तस्य सिद्धिः। अयमर्थः--एकं तावत् त्वद-भिमतं तात्त्विकमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा; सद्रूपतयाऽङ्गीक्रियमाणत्वात्; तथाचा-द्वैतवादस्य मूले निहितः कुठारः। अथेति--पक्षान्तरद्योतने। यदि असती-- गगनाम्भोजवदव-स्तुरूपा सा माया, ततः, हन्त! इत्युपदर्शने आश्चर्ये वा; कुतः प्रपञ्चः?- अयं त्रिभुवनोदर-विवरवर्तिपदार्थसार्थरूपप्रपञ्चः कुतः?, न कुतोऽपि सम्भवीत्यर्थः; मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युप-गमात्, अवस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वोपाख्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणेदृशविवर्तजननेऽस-मर्थत्वात्। किलेन्द्रजालादौ मृगतृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम्, अत्र तु तदुपलम्भात् कथं मायाव्यपदेशः श्रद्धीयताम्?।

अथ मायाऽपि भविष्यति, अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा च भविष्यति इति चेत, तर्हि स्ववचनविरोधः; नहि भवति माता च वन्ध्या चेति। एतमेवार्थं हृदि निधायोत्तरार्धमाह- मायैव चेदित्यादि। (अत्रैवकारोऽप्यर्थः, अपिश्च समुच्चयार्थः, अग्रेतनचकारश्च तथा; उभयोश्च समु-च्चयार्थयोर्यौगपद्यद्योतकत्वं प्रतीतमेव; यथा रघुवंशे- "ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः" इति) तदयं वाक्यार्थः- माया च भविष्यति, अर्थसहा च भविष्यति; अर्थसहा-अर्थक्रियासमर्थपदार्थो-

गद्दर्शनक्षमा, चेत्कथ्योऽत्र चोद्यते–इति चेत्, एवं परमाद्वय तस्य स्ववचनविरोधमुद्भावयति–त
त्किं भवत्परेषां माता च वन्ध्या च ?। किमिति सम्भावने। सम्भाव्यते एतत्–भवता ये परे–प्रतिप
क्षाः, तेषां भवत्परेषां भवद्व्यतिरिक्तानां, भवदाज्ञाबहिर्भूतत्वेन तेषां वादिनां, वन्माता च
भविष्यति, वन्ध्या च भविष्यतीत्युपहासः। माता हि प्रसवधर्मिणी वनितोच्यते, वन्ध्या च
तद्विपरीता। ततश्च माता चेत् कथं वन्ध्या ?, वन्ध्या चेत् कथं माता ?। तदेवं मायाया अवास्तव्याप
भ्युपगमेऽद्वयत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, प्रस्तुतवाक्यवत् स्पष्ट एव स्ववचनविरोधः। इति समासार्थः।

व्यासार्थस्त्वयम्– ते वादिन इदं प्रतिपद्यन्ते– तात्त्विकमात्माद्वैतमेवास्ति–

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन”॥ १॥

इति न्यायात्। अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात्, यदेव तदेवम्, यथा शुक्ति-
शकले कलधौतम्, तथा चायम्, तस्मात् तथा।

तदेतद् वार्त्तम्। तथाहि–मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् ?, किमत्यन्ताऽसत्त्वम्,
उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् ?, प्रथमपक्षे– असत्ख्यातिप्रसङ्गः।

---

१ निःसारम्। २ यत्र ज्ञाने प्रतिभासमानोऽपि तद्रूपो विचार्यमाणो नास्ति तन्मायामय [illegible] तोयभ्रान्तिकमाप्याभिरूपी कृता

द्वितीये- विपरीतख्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदमनिर्वाच्यत्वम् ? । निःस्वभावत्वं चेत्, निसः प्रतिषेधार्थत्वे, स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वे, असत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः ; भावप्रतिषेधे-असत्ख्यातिः, अभावप्रतिषेधे-सत्ख्यातिरिति ।

प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत् ; अत्र विरोधः-- स प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत्, कथं धर्मितयोपात्तः ? ; कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् ? । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते ? । यथा प्रतीयते न तथेति चेत् , तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात् । किञ्च, इयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता । घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं--प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति ; घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदाऽऽत्मनस्तस्योत्पादात् ; इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्दवाच्यत्वात् ।

अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात् कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम् ? । प्रत्यक्षं हि-- इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यस्वरूपं प्रतिषेधति ।

१ विपरीतविषयं ज्ञानं विपरीतख्यातिः; इयं नैयायिकवैशेषिकभाट्टयौगिकजैनैरङ्गीकृता ।

२ सत्पदार्थविषयं ज्ञानं सत्ख्यातिः ।

" आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः । नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते " ॥ १ ॥

इति वचनात् इति चेत् । न , अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः । पीताऽऽदिव्यवच्छिन्नं हि नीलं-नीलमिति गृहीतं भवति , नान्यथा , केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवाऽन्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् , मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत् । तस्माद् यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् ।

अपि च, विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते, यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाऽविद्याऽपीति ? । तथा च द्वैताऽऽपत्तिः , ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात् प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः ? । इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्षः , इति ।

अनुमानबाधितश्च प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् , प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्माऽऽत्मना व्यभिचारी , स हि प्रतीयते , न च मिथ्या । अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचन-सामग्र्यसंभूतेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् ।

किञ्च, इदमनुमानं प्रपञ्चाद् भिन्नम्, अभिन्नं वा ?। यदि भिन्नं–तर्हि सत्यमसत्यं वा ?। यदि सत्यं–तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात्; अद्वैतवादप्राकारे खड्गपातात्। अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित् तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात्। अभिन्नं चेत्, प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वाऽऽपत्तिः; मिथ्यारूपं च तत् कथं स्वसाध्यसाधनायाऽलम्?। एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वाऽसिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात्?, यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति।

अथवा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मणः साधनं, दूषणं चोपन्यस्यते–ननु परमब्रह्मण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात् प्रमाणविषयत्वम्; अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात्। तथाहि–प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति; प्रत्यक्षं द्विधा भिद्यते– निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात्। ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात् तस्यैकस्यैव सिद्धिः। तथाचोक्तम्—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्" ॥१॥

न च विधिवत् परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षत एव प्रतीयते–इति द्वैतसिद्धिः; तस्य निषेधाऽविषयत्वात्; "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ" इत्यादिवचनात्। यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं

घटपटादिभेदसाधकं, तदपि सत्तामपेक्ष्यैवागृहीतानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताऽद्वैतस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तदुक्तम्— "यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपम्" इति।

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथाहि—विधिरेव तत्त्वं, प्रमेयत्वात्, यत प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमोपमानार्थापत्तिप्रमाणानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः। तथा चोक्तम्—

"प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते"॥१॥

यथाऽभावाख्यं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्याभावात्—न तत्प्रमाणम्, तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यत्तु प्रमाणस्य विषयः स विधिरेव, तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्, सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं तन्न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम्, प्रमेयं चेदं निखिलवस्तुतत्त्वम्, तस्माद् विधिरूपमेव।

इतो वा तत्सिद्धिः— ग्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभासन्ते च ग्रामाऽऽरामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः।

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते– "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । यदेजति यन्नैजति, यद् दूरे यदन्तिके । यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादिः । "श्रोतव्योऽयमात्मा मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्यः" इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः। कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च —

'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन"।१। इति

प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम् , सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात्। तथा हि– सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः, सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद् यद्रूपेणान्वितं तत् तदात्मकमेव। यथा– घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः; सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु, इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति ।

तदेतत् सर्वं मदिरारसाऽऽस्वादगद्गदोद्गदितमिवाऽऽभासते, विचाराऽसहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं, न तु वाङ्मात्रेण; अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्; अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतम्–लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाण-

मभ्युपगम्यते । तदसत्, तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्, एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात् ।

अथास्तु यथाकथञ्चित् प्रमाणमपि। तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररी क्रियते ? । न तावत् प्रत्यक्षम्, तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्, आबालगोपालं तथैव प्रतिभासनात् । यच्च ' निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तत्रावेदकम् ' इत्युक्तम्, तदपि न सम्यक्, तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्, सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः । सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परमब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात् ।

यदप्युक्तम्— " आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम् " इत्यादि । तदपि न पेशलम्, प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव प्रकाशनात्, एतच्च प्रागेव क्षुण्णम् । न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन ' यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपम् ' इत्याद्युक्तं शोभेत, विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य खरविषाणवत्प्रतिभासनात् । तदुक्तम्—

" निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् । सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि " ॥ १ ॥

ततः सिद्धे सामान्यविशेषाऽऽत्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम् ?। यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम्; पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वं साधनमुक्तम्, तदपि साधनाऽऽभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायाऽलम्; प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः, परतो वा ?। न तावत् स्वतः; घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः। परतः प्रतिभासमानत्वं च-परं विना नोपपद्यते; इति।

यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्; तदप्यन्वेत्रऽन्वीयमानद्वयाऽविनाभावित्वेन पुरुषाऽद्वैतं प्रतिबध्नात्येव। न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति; मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात्। ततो न किञ्चिदेतदपि; अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः।

किञ्च, पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः, अभिन्ना वा ?। भेदे- द्वैतसिद्धिः। अभेदे त्वेकरूपताऽऽपत्तिः। तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति ?। यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्, तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः ?। तदुक्तम्-

१ श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यैर्देवागमस्तोत्र इति।

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद् हेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्?"

"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादेः, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेरागमादपि न तत्सि-
द्धिः। तस्यापि द्वैताऽविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासंभवात्। वाच्यवाचकभावलक्षणस्य
द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते। विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा" ॥ १ ॥

ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः।
तथा कथमागमादपि तत्सिद्धिः? ॥

इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः। इति काव्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरःसरं तीर्थान्तरीयक-
ल्पितैकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभाविभ्रमभावमाह—

अनेकमेकाऽऽत्मकमेव वाच्यं, द्वयाऽऽत्मकं वाचकमप्यवश्यम्।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥१४॥



व्याख्या—वाच्यम्—अभिधेयं, चेतनमचेतनं च वस्तु, (एवकारस्याऽप्यर्थत्वात्) सामान्यरू-

पतया एकाऽऽत्मकमपि; व्यक्तिभेदेनाऽनेकम्–अनेकरूपम्। अथवाऽनेकरूपमपि एकाऽऽत्मकम्; अन्योऽन्यं संवलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः। तथा वाचकम्– अभिधायकं, शब्दरूपम्; तदप्यवश्यम्– निश्चितं; द्वयात्मकं–सामान्यविशेषोभयाऽऽत्मकत्वाद्– एकानेकाऽऽत्मकमित्यर्थः। (उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम्। अवश्यमितिपदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकाऽऽत्मकत्वं निश्चिन्वत् तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति)। अतः– उपदर्शितप्रकारात्, अन्यथा– सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण, वाचकवाच्यक्लृप्तौ– वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, अतावकानाम्– अत्वदीयानाम्, अन्ययूथ्यानां; प्रतिभाप्रमादः–प्रज्ञास्खलितम्। इत्यक्षरार्थः। (अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग् निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं, तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाऽधीनत्वेन वाचकस्याऽभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थम्) तथा च शाब्दिकाः–

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते"॥१॥ इति।

भावार्थस्त्वेवम्– एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतया अभ्युपगच्छन्ति; ते च द्रव्यास्तिक-

१ भर्तृहरयो वाक्यपदीयग्रन्थे प्रथमकाण्डे १२४ तमे श्लोके।

नयमनुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः, सांख्याश्च। केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति, ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः[1] सौगताः। अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते; ते च नैगमनयानुरोधिनः[2] काणादाः, आक्षपादाश्च।

एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चित् चर्च्यते—तथाहि—संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति—सामान्यमेव तत्त्वम्, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। तथा सर्वमेकम्, अविशेषेण सदिति ज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात्[3]। तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम्; ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः। किञ्च, ये सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्तात्मकाश्च विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते, न वा? नो चेत्— निःस्वभावताप्रसङ्गः, स्वरूपस्यैवाऽभावात्। अस्ति चेत्— तर्हि तदेव सामान्यम्, यतः समानानां भावः सामान्यम्। विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव।

अपि च, विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम्, व्यावृत्तिप्रत्ययश्च विचार्यमाणो

१ द्रव्यास्तिकनयानुसारिणः। २ नैगमनयानुगामिनः। ३ सर्वं सर्वेषु सदिति ज्ञानाभिधाने तयोरनुवृत्तिरेव लिङ्गं तेनानुमिता सत्ता यस्य तत्तथा।

न घटते। व्यावृत्तिर्हि–विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च–स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी, कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते ?। नच स्वरूपसत्त्वादन्यत् तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्तते। तत्र च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां, स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्त्तिनोऽतीतवर्तमानाऽनागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्तनीयाः; ते च नाऽज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्याः। ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्; न चैतत्प्रातीतिकं, यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु– निषेधः; स चाऽभावरूपत्वात् तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति ?, खपुष्पवत्।

तथा येभ्यो व्यावृत्तिः, ते सद्रूपा असद्रूपा वा ?। असद्रूपाश्चेत्–तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः ?। सद्रूपाश्चेत्–सामान्यमेव। या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते–सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेका अनेका वा ?। अनेका चेत्–तस्या अपि विशेषत्वाऽऽपत्तिः, अनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद् विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृत्तौ विशेषाणामभाव एव स्यात्; तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च। एका चेत्–सामान्यमेव संज्ञाऽन्तरेण प्रतिपन्नं स्यात्, अनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाऽव्यभिचारात्। किञ्च, अमी विशेषाः– सामान्याद् भिन्ना अभिन्ना वा ?। भिन्नाश्चेद्–मण्डूक-

अद्यमारानुकारा । अभिलाप्येत्-तदेव, तत्स्वरूपवत् । इति सामान्यैकान्तवादः ।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते– विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः, ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहाय, अन्यत् किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते, तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति—

> " एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
> साधारणं रूपमवेक्षते यः, शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः " ॥ १ ॥

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते, इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम् ।

किञ्च, यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते– तदेकमनेकं वा ? । एकमपि– सर्वगतमसर्वगतं वा ? । सर्वगतं चेत् किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते ? । सर्वगतत्वाभ्युपगमे च तस्य– यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि ?, अविशेषात् । असर्वगतं चेद्-विशेषरूपापत्तिः, अभ्युपगमबाधश्च ।

अथाऽनेकं गोत्वाऽश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदभिन्नत्वात् (ते), तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः अन्योऽन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद् गोत्वं तदश्वत्वाऽऽत्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्; तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते; नहि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते; तस्य निष्क्रियत्वात्; वाहदोहादिकासु-अर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा?। भिन्नं चेद्- अवस्तु; विशेषविश्लेषेणाऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्। अभिन्नं चेद् -विशेषा एव, तत्स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः।

नैगमनयाऽनुगामिनस्त्वाहुः- स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ; तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात्। तथाहि-सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्, यावेवं तावेवं, यथा पाथःपावकौ, तथा चैतौ, तस्मात् तथा। सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम्। तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः। ततः कथमेषामैक्यं युक्तम्?।

न सामान्यात् पृथग् विशेषस्योपलम्भ इति चेत्; कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम्?। सामान्यव्याप्तस्ये ति चेद्- न तर्हि स विशेषोपलम्भः; सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात्-ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाऽभावात् नवाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता;

न चैतद्दृष्टम्, विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्। तस्माद् विशेषमभिलपता, तत्र च व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः।

एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं, विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः। तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक्प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते। इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः।

तदेतत् पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदम्, प्रमाणबाधितत्वात्। सामान्यविशेषात्मकस्यैव (ग) वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात्। वस्तुनो हि लक्षणम्–अर्थक्रियाकारित्वम्, तच्चानेकान्तवादे एवाऽविकलं कलयन्ति परीक्षकाः। तथाहि– यथा गौरित्युक्ते खुरककुल्लाङ्गूलसास्नाविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते।

यत्राऽपि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासः तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव। शबलेति केवलविशेषोच्चारणेऽपि, अर्थात् प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते। अपि च, शबलत्वमपि नानारूपम्; तथा दर्शनात्। ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते कोडीकृतसकलशबला

पलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते । तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वे, तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम् । नहि क्वचित् कदाचित् केनचित् सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते ; विशेषा वा तद्विनाकृताः । केवलं दुर्नयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्याऽन्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः; सोऽयमन्धगजन्यायः ।

येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषाः, तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वाद् नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः ।

स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः— सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद् भिन्नं कथञ्चिदभिन्नं; कथञ्चित् तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद् विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामाऽऽत्मकसामान्यदर्शनात् समानेति, तेन समानो गौरयम् , सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः ; यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, नच तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु—रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव ; पृथग्व्यपदेशाऽऽदिभाक्त्वात् ।

विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग्भवितुमर्हन्ति, यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्, तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात्; न च तस्य तत् सिद्धम्, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात्। सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित् परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात्। विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमित्युच्यते। सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकात् तेषामप्येकरूपता इति।

एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्। प्रमाणार्पणात् तस्य कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्, सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् कथञ्चित् प्रतिव्यक्ति भेदात्। एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितम्—तदास्मत्कक्षाप्रवेशः, कथञ्चिद् विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद् भेदाविनाभूतत्वात्। पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तयोरपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन, भिन्नत्वेन च स्वीकरणात्। पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः,



१ 'तेऽस्मत्कक्षा' इति पाठान्तरम्।

भेदश्च ; द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति । तथा च कथं न सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वं वस्तुनो घटते ? इति । ततः सुष्ठूक्तं 'वाच्यमेकमनेकरूपम्' इति ।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयाऽऽत्मकम्—सामान्यविशेषाऽऽत्मकम् । सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायि शब्दत्वमेकम् ; शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम् । शब्दस्य हि सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद् व्यक्तमेव तथाहि— पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत् ।

यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वात्, अतिनिबिडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्, पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराऽप्रेरकत्वात्, गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्ताः, ते हेत्वाभासाः। तथाहि—शब्दपर्यायस्याऽऽश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम् ; तत्र च स्पर्शो निर्णीयते एव । यथा—शब्दाऽऽश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानाऽनुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्; तथाविधगन्धाऽऽधारद्रव्यपरमाणुवत्, इति—असिद्धः प्रथमः । द्वितीयस्तु—गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः ; यतस्मा-

१ 'स्ताद्वातमिति' इत्यपि पाठः ।

मजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् ।

अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवात् नातिनिबिडत्वम्, अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ, कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्?, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः, इति चेत्—तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् इत्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु- तडिदुल्कादिभिरनैकान्तिकः । चतुर्थोऽपि- न श्रेयः; गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते । पञ्चम पुनः असिद्धः । तथाहि न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्, रूपादिवत् । इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात् सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति ।

न च वाच्यम्- आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयते इति, यतः- संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभि सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवदन्योन्यभावमापन्नस्य कथंचित् पौद्गलिकत्वाभ्युपगमादिति । एवमपि स्याद्वादवादिनां पौद्गलिकमपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं, तथाऽप्यपौद्गलिकेषु धर्मा-

॥१६३॥

ऽधर्माकाशकालेषु तदात्मकत्वमर्वाग्दृशां न तथा प्रतीतिविषयमायाति। पौद्गलिकेषु पुनस्तत् साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वमत्र सामान्यविशेषाऽऽत्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तः, अनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः। अथवा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम्; शब्दार्थयोः कथञ्चित् तादात्म्याभ्युपगमात्। यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—
"अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिराणं अभिण्णं च। खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्हि जम्हा उ वयणसवणाणं नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं, तेण भिन्नं तु। जम्हा य मोयगुच्चारणम्हि तत्थेव पचओ होइ॥ २॥ न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ"।

एतेन– "विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः। कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि" ॥ १ ॥ इति प्रत्युक्तम्; अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति वचनात्। शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं– यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति। स च –तत् तथा प्रतिपादयन्

वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव परं तु शक्तः, मान्यथा, अतिप्रसङ्गात्, घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति ।

अथवा भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते– वाच्यं– वस्तु, घटादिकम्, एकात्मकमेव एकस्वरूपमपि सत्, अनेकम्– अनेकस्वरूपम् । अयमर्थः– प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति । तच्च– सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते । यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्थाः, विजातीयाश्च पटादयः, तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम् । पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाऽऽहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते । तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते, अन्यथा प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः ।

सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम् । एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्, एकान्ताऽभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् । तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाऽभावाऽऽत्मकं वस्तु । यदाह—

"सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात्, स्वरूपस्याप्यसंभवः" ॥ १ ॥

---

१ एकरूपमेव इत्यपि पाठः ।

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं ; सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

" जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ । जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ "

तथा— " एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः " ॥ १ ॥

ये तु सौगताः पराऽसत्त्वं नाङ्गीकुर्वते, तेषां घटादेः सर्वाऽऽत्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि— यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत् पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ?, पराऽसत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिध्यति। अथ न नाम नास्ति पराऽसत्त्वं, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्—अहो ! वैदग्धी न खलु यदेव सत्त्वं— तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति ; विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनाऽनयोरैक्यायोगात्।

अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेत् ; अहो ! वाचाटता देवानांप्रियस्य । नहि

न च येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवाऽसत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः, किन्तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्, तदा क्व विरोधाऽवकाशः ?।

सौगतास्तु प्रगल्भन्ते– "सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः, किं तेषामसत्त्वाऽऽत्मकत्वकल्पनया ?" इति। तदसत्– यदा हि पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। इत्यलं विस्तरेण।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्वयात्मकम्– एकानेकात्मकमपि खलु– अनेकमित्यर्थः। अर्थान्तरन्यायेन[1] शब्दस्यापि भावाभावात्मकत्वात्। अन्यथा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नोदराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया, तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते ?, भवन्ति हि वक्तारो योगिनः– शरीरं प्रति घट इति, संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात्। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि, दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च– कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं



1 'यथोक्तन्यायेन' इत्यपि पाठः।

कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ धृतिश्रद्धासंहननादिमति प्राचीनकाले, षड्गुरुशब्देन– शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, सांप्रतकाले तु, तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन– उपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतकल्पव्यवहारानुसारात्। शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु– द्वादशीशब्देनैकादशी; त्रिपुरार्णवे च– अलिशब्देन मदिराभिषिक्ताने च। मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्; इत्यादि।

न चैवं सङ्केतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं; स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः, सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति।

तथा च निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः– "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः"। अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्रन्थान्तरादवसेयम्॥ अतोऽन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्॥ प्रतिभासमात्रमु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य; प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्य; उक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः– सामान्यविशेषात्मकस्य, भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः– सामान्यविशेषात्मको, भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति।

॥१३८

अन्यथा— प्रकारान्तरैः, पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानां वादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति, न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते ।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेत्—एते ब्रूमः । " अपोह एव शब्दार्थः " इत्येके, " अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां, न वस्तु विधिनोच्यते " इति वचनात् । अपरे च सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः, तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्य, एकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः । न पुनर्विशेषाः, तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयताऽनुपपत्तेः । विधिवादिनस्तु—विधिरेव वाक्यार्थः, अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात् तस्येत्याचक्षते । विधिरपि— तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्याऽनेकप्रकारः । तथाहि— वाक्यरूपः शब्द एव प्रवर्तकत्वाद् विधिरित्येके । तद्व्यापारो भावनाऽपरपर्यायो विधिरित्यन्ये । नियोग इत्यपरे । प्रैषादय इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनामात्रमित्यन्ये । एवं फलतदभिलाषकर्मादयोऽपि वाच्याः । एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रादवसेयमिति । इति काव्यार्थः ॥ १४ ॥

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं व्यापयन्, तद्बालिशताविलसितानामपरिमितत्वं दर्शयति—

चिदर्थशून्या च, जडा च बुद्धिः, शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति, कियद् जडैर्न ग्रथितं विरोधि ? ॥१५॥

व्याख्या– चित्–चैतन्यशक्तिः, आत्मस्वरूपभूता ; अर्थशून्या–विषयपरिच्छेदविरहिता; अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाद्– इत्येका कल्पना। बुद्धिश्च महत्तत्त्वाख्या; जडा, अनवबोधस्वरूपा–इति द्वितीया। अम्बरादि–व्योमप्रभृति भूतपञ्चकं, शब्दादितन्मात्रजम्– शब्दादीनि यानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं, शब्दादितन्मात्रजम्–इति तृतीया। अत्र "च" शब्दो गम्यः। पुरुषस्य च–प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्यात्मनो न बन्धमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरेव। तथा च कापिलाः––

"तस्माद् न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः"

तत्र बन्धः–प्राकृतिकादिः ; मोक्षः–पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः–इति चतुर्थी। इति शब्दस्य प्रकारार्थत्वाद्– एवंप्रकारमन्यदपि, विरोधीति– विरुद्धं, पूर्वापरविरोधादिदोषाऽऽघ्रातम्;

उक्तो– मूलैः, तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः, किमत्र प्रथितं– किमपि न स्वशास्त्रोपनिबद्धम्। किन्त्विदमत्रयागमेव, तत्प्ररूपितविरुद्धार्थानामानन्त्येनैवयत्ताऽनवधारणात्। इति संक्षेपार्थः।
व्यासार्थस्त्वयम्– सांख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुतत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते। आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम्। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं– शारीरं मानसं च। शारीरं– वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं– कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा– आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति। तत्राधिभौतिकं– मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। आधिदैविकं– यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम्। अनेन दुःखत्रयेण रज परिणामभेदेन बुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया, अभिसंबन्धो– अभिघातः।

तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। तद्यथा– अव्यक्तम्–एकम्, महदहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं– व्यक्तम्। पुरुषश्च चिद्रूप इति। तथा चेश्वरकृष्णः–
“ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ” ॥ १ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम्। तच्च--अनादिमध्यान्तमनवयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम्। प्रधानाद्--बुद्धिर्महदित्यपरपर्याय उत्पद्यते। योऽयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिः-- एवमेतद् नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः। तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि; अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि।

बुद्धेः--अहङ्कारः। स च--अभिमानात्मकः, अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं स्वामी, अहमीश्वरः, असौ मया हतः, ससत्त्वोऽहममुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः। तस्मात्--पञ्च तन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषरूपाणि सूक्ष्मपर्यायवाच्यानि। शब्दतन्मात्राद् हि शब्द एवोपलभ्यते, न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जादिभेदाः। षड्जादयः--शब्दविशेषास्तूपलभ्यन्ते। एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति। तत एव चाहङ्काराद् एकादशेन्द्रियाणि च। तत्र चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, त्वगिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; एकादशं मन इति।

एभ्यस्तन्मात्रेभ्यश्च पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते । तद्यथा–शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम् । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः । शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम् । शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति । पुरुषस्तु—

'अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने'' ॥१॥

अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः । चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या, यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो विषया बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते । आह च पतञ्जलिः– "शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्, अतदात्मकोऽपि तदात्मक इव प्रतिभासते" इति । मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः । तथा च वाचस्पतिः– "सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य–मत्वाहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य, कर्तव्यमेतन्मया



पङ्ग्वन्धवद् इति पाठः।

ध्यवस्यति; ततश्च प्रवर्त्तते, इति लोकतः सिद्धम् ; तत्र कर्तव्यमिति योऽयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्यायाः बुद्धेः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः " इति । चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनाऽपि बुद्धिश्चेतनावतीवाऽऽभासते । वादमहार्णवोऽप्याह– " बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति ; तदेव भोक्तृत्वमस्य, न त्वात्मनो विकाराऽऽपत्तिः " इति । तथाचासुरिः—

"विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते । प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि" ॥१॥

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

" पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् । मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा " ॥ १॥

न च वक्तव्यम्– पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी ; कथमस्य मोक्षः ? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माऽऽशयानां च बन्धनसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात् । अत एव नास्य प्रेत्यभावाऽपरनामा संसारोऽस्ति, निष्क्रियत्वादिति । यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते, संसरति, मुच्यते च, न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते ; यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात् , तथा भोगापव-

च बुद्धिः '' इत्यपि विरुद्धम्। न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति। ननूक्तमचेतनाऽपि बुद्धिश्चिच्छक्तिसान्निध्याच्चेतनावतीवावभासत इति। सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तम्, न हि चैतन्यवति पुरुषादौ प्रतिसंक्रान्ते दर्पणस्य चैतन्याऽऽपत्तिः; चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किञ्च, अचेतनाऽपि चेतनावतीव प्रतिभासत इति इवशब्देनाऽऽरोपो ध्वन्यते। न चाऽऽरोपोऽर्थक्रियासमर्थः। न खल्वतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्निसाध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुमीश्वरः। इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्यवसायो घटते; न जडरूपाया बुद्धेरिति। अत एव धर्माद्यष्टरूपताऽपि तस्या वाङ्मात्रमेव; धर्मादीनामात्मधर्मत्वात्। अत एव चाहङ्कारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते; तस्याभिमानात्मकत्वेनाऽऽत्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात्। अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम्।

अपि च, सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते। अयं च शब्दतन्मात्रात् तस्याप्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च धुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति। न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति " शब्दगुणमाकाशम् '' इत्यादि वाङ्मा-

त्रम् । वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते , इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात् , परप्रतिपादनग्र हणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितराङ्गैरपि साध्यत्वोपलब्धेः , तथापि तत्कल्पने इन्द्रिय संख्या न व्यवतिष्ठते , अन्याङ्गोपाङ्गादीनामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् ।

यच्चोक्तं "नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च , न पुरुषस्य" इति । तदप्यसारम् , अनादिभवपरम्परानुबद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न बन्धः , तदा को नामान्यो बन्धः स्यात् ? । "प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तम्" इति च प्रतिपद्यमानेनाऽऽयुष्मता संज्ञाऽन्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं , तस्यैवैवंस्वरूपत्वात् , अचेतनत्वाच्च ।

यत्तु प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधो बन्धः । तद्यथा–प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः । पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ,

"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं , नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" ॥ १ ॥ इति वचनात् ।

स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं कथञ्चिद् मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगेभ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन

कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात्। बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसारः। बन्धमोक्षयोश्चैकाधि-
करणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्षः, आबालगोपालं तथाप्रतीतेः।

प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेत्।
न, प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात्। अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः, विवे-
कख्यातिश्च पुरुषार्थः तस्यां जातायां निवर्तते, कृतकार्यत्वात्;

"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः"॥ १॥

इति वचनादिति चेत्। नैवम्, तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात्, यथेयं कृतेऽपि
शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते; प्रवृ-
त्तिलक्षणस्य स्वभावस्यानपेतत्वात्। नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टविघातकारी, यथा हि नर्तकी नृत्यं
पारिषदेभ्यो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तत्कुतूहलात् प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायाऽऽत्मानं
दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति?। तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति
प्रतिपत्तव्यम्।

एवमन्यासामपि तत्कल्पनानां " तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रभेदात् पञ्चधाऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपो विपर्ययः । ब्राह्मप्राजापत्यसौम्यैन्द्रगान्धर्वयाक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योनः । ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः । इति चतुर्दशधा भूतसर्गः । बाधिर्यकुष्ठताऽन्धत्वजडताऽजिघ्रतामूकताकौण्यपङ्गुत्वक्लैब्योदावर्तमत्तताख्यैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिविधा शक्तिः । प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिक्यः, शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्च बाह्यास्तुष्टयः; ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भउत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः । इति नवधा तुष्टिः । त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः, तथाऽध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्च तारसुतारतारतारम्यकसदामुदिताख्याः । इत्येवमष्टधा सिद्धिः । धृतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः । इत्यादीनां" संचरप्रतिसंचरादीनां च तत्त्वकौमुदीगौडपादभाष्यादिप्रसिद्धानां विस्तरस्यपक्रमापनीयम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १५ ॥

इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुः, ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवा-स्तीति ब्रुवते, तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे निराकृतामाह—

**न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः।**
**न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥१६॥**

व्याख्या–बौद्धाः किल प्रमाणात् तत्फलमेकान्तेनाऽभिन्नं मन्यन्ते। तथा च तत्सिद्धान्तः– "उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्"। उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च, तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम्; कुतः?, अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात्; तथाहि-परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते। न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्; अभिन्नाधिकरणत्वात्। इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति। एतच्च न समीचीनम्; यतो यद्यस्मादेका-न्तेनाऽभिन्नं, तत्तेन सहैवोत्पद्यते; यथा घटेन घटत्वम्। तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽ-भ्युपगम्यते–प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति। स चैकान्ताऽभेदे न घटते। नहि युगपदुत्पद्यमान-योस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः, नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य;

१५।५।० ॥१५१॥

निपतोत्तरकालभाविस्वात् कार्यस्य। एतदेवाह– "न तुल्यकालः फलहेतुभावः" इति। फलं कार्यं, हेतुः कारणम्, तयोर्भावः–स्वरूपं, कार्यकारणभावः, स तुल्यकालः–समानकालो न युज्यत इत्यर्थः।

अथ क्षणान्तरितत्वात् तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह– "हेतौ विलीने न फलस्य भावः" इति हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने–क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भावः सत्ता, निर्मूलत्वात्, विद्यमाने हि फलहेतावस्येदं फलमिति प्रतीयते, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्।

किञ्च, हेतुफलभावः संबन्धः, स च द्विष्ठ एव स्यात्। न चाऽनयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् संबन्धं क्षमते। ततः कथम् 'अयं हेतुरिदं फलम्' इति प्रतिनियता प्रतीतिः, एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याऽग्रहणे तदसंभवात्?

"द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम्" ॥१॥ इति वचनात्।

यदपि धर्मोत्तरेण– "अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः" इति न्यायबिन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितम्– "नीलनिर्भासं हि विज्ञानं, यतस्तस्मान्नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं,

॥१५१॥

नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते । न चाऽत्र जन्यजनकभावनिबन्धनसाध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्; अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन; तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते; व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्" इत्यादि । तदप्यसारम्; एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयाऽयोगात्, व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च संबन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात्।

किञ्च अर्थसारूप्यमर्थाकारता । तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूपं वा ?। निश्चयरूपं चेत् तदेव व्यवस्थापकमस्तु; किमुभयकल्पनया ?। अनिश्चितं चेत्, स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम् ?। अपि च, केयमर्थाकारता ?; किमर्थग्रहणपरिणामः, आहोस्विदर्थाकारधारित्वम् ?; नाद्यः; सिद्धसाधनात्। द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वोपपत्त्यादिदोषाघातः तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याऽभेदः साधीयान् । सर्वथा तादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिद्ध्यत्यतिप्रसङ्गात्।

ननु प्रमाणस्याऽसारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति, व्यावृत्तिभेदा-देकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्। नैवम्, स्वभावभेदमन्तरेणाऽन्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाऽप्रमाणाऽफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तर-व्यावृत्त्याऽप्रमाणत्वस्याऽफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्, विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद् वस्तुनः?। तस्मात् प्रमाणात् फलं कथञ्चिद्भिन्नमेवैष्टव्यम्, साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात्।

ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते ते परस्परं भिद्येते, यथा कुठारच्छिदिक्रिये इति। एवं यौगाभिमतः प्रमाणात् फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः, तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिदभेदव्यवस्थितेः, प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः, यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते, परित्यजति, उपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात्, इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत इत्यलम्।

अथवा पूर्वार्धमिदमन्यथा व्याख्येयम्। सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति— सर्वं सत् क्षणिकम्, यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते। तत्र येन स्वरूपेणान्त्या-वस्थायां घटादिकं विनश्यति तच्चेत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन

विनष्टव्यम् , इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् । अथेदृश एव स्वभावस्तस्य स्वहेतुतो जातो यत्क्रिय-
न्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति । एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि स एष एव तस्य स्वभावः ,
इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम् ; इति नैव विनश्येदिति । सोऽयमदित्सोर्वणिजः
प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः । तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणव-
द् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत। एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभा-
वत्वाद् नैव विनश्येदिति ।

स्यादेतत् , स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातम् , परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यत इति।
तदसत्। कथं पुनरेतद् घटिष्यते " न च तद् विनश्यति स्थावरत्वात् , विनाशश्च तस्य विरो-
धिना बलेन क्रियते " इति ?। न ह्येतत्सम्भवति– जीवति च देवदत्तो, मरणं चास्य भवतीति।
अथ विनश्यति, तर्हि कथमविनश्वरं तद् वस्तु स्वहेतोर्जातमिति ? ; न हि म्रियते च, अमरणा-
धर्मा चेति युज्यते वक्तुम् । तस्मादविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशाऽयोगात् , दृष्टत्वाच्च नाशस्य,
नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम् । तस्मादुत्पन्नमात्रमेव तद्विनश्यति। तथाच क्षण-
क्षयित्वं सिद्धं भवति। प्रयोगस्त्वेवम्– यद्विनश्वरस्वरूपं तदुत्पत्तेरनन्तराऽनवस्थायि, यथान्त्यक्ष-

स्या०वा०

॥१५८॥

भावति घटस्य रूपरूपम् , विनश्वरस्वभावं च भवादिकालुदयकाले, इति स्वभावहेतुः । यदि क्षणक्षयिणो भावाः , कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात् ? । उच्यते– निरन्तरसदृशाऽपरापरोत्पादात् , अविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते , तेनाकारविलक्षणत्वाऽभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यभेदाध्यवसायी प्रत्ययः प्रसूयते । अत्यन्तभिन्नेष्वपि लूनपुनर्जातकुशकाशकेशादिषु दृष्ट एवाऽयं 'स एवाऽयम्' इति प्रत्ययः , तथेहापि किं न सम्भाव्यते ? तस्मात्सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम् । अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणम् , उत्तरक्षण उपादेयम् , इति पराभिप्रायमङ्गीकृत्याह– " न तुल्यकाल " इत्यादि । ते विशकलितमुक्तावलीकल्पा निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति, उत क्षणान्तरे ? । न तावदाद्यः , समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाऽभावात् । अतः साधूक्तम्– " न तुल्यकालः फलहेतुभाव " इति । न च द्वितीयः , तदानीं निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि ? । न चानुपादानस्योत्पत्तिरिष्टा, अतिप्रसङ्गात् । इति सुष्ठु व्याहृतं– " हेतौ विलीने न फलस्य भाव " इति । पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः । केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भावः उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः ।

यच्च क्षणिकत्वस्थापनाय मोक्षाकरगुप्तेनाऽनन्तरमेव प्रलपितं तत् स्याद्वादवादे निरवकाशमेव, निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात्, प्रतिक्षणं पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात्। यदप्यभिहितम्– न ह्येतत् संभवति– जीवति च देवदत्तो, मरणं चास्य भवतीति। तदपि संभवादेव न स्याद्वादिनां क्षतिमावहति ; यतो जीवनं प्राणधारणं, मरणं चायुर्दलिकक्षयः। ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलिकानामुदीर्णानां क्षयादुपपन्नमेव मरणम्। न च वाच्य- मन्त्यावस्थायामेव कृत्स्नायुर्दलिकक्षयात् तत्रैव मरणव्यपदेशो युक्त इति ; तस्यामप्यवस्थायां न्यक्षेण तत्क्षयाभावात्। तत्रापि ह्यवशिष्टानामेव तेषां क्षयो न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम्। इति सिद्धं गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं मरणम्। इत्यलं प्रसङ्गेन।

अथवाऽपरथा व्याख्या– सौगतानां किलार्थेन ज्ञानं जन्यते। तच्च ज्ञानं तमेव स्वोत्पादक- मर्थं गृह्णातीति, "नाऽकारणं विषयः" इति वचनात्। ततश्चार्थः कारणं ज्ञानं च कार्यमिति। एतच्च न चारु, यतो यस्मिन् क्षणेऽर्थस्य स्वरूपसत्ता तस्मिन्नद्यापि ज्ञानं नोत्पद्यते, तस्य तदा स्वोत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात्। यत्र च क्षणे ज्ञानं समुत्पन्नं तत्रार्थोऽतीतः। पूर्वापरकालभावनियतश्च

१ कार्त्स्न्येन

ऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि । स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव । योगिनां चाऽतीताऽनागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम् , तयोरसत्त्वात् ?

" ण णिहाणेगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए । णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोवमा " इति वचनात् ।

निमित्तत्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः । न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं? प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात् । जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाऽभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याऽप्रामाण्यप्रसङ्गः , तस्यार्थाऽजन्यत्वात् । न च स्मृतिर्न प्रमाणम् , अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात् ; साध्यसाधनसंबन्धस्मरणपूर्वकत्वात् तस्य ।

जनकमेव च चेद् ग्राह्यम् , तदा स्वसंवेदनस्य कथं ग्राहकत्वम् ? तस्य हि ग्राह्यं स्वरूपमेव । न च तेन तज्जन्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । तस्मात् स्वसामग्रीप्रभवयोर्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसंभवाद् न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य । नन्वर्थाऽजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिनियतकर्मव्यवस्था ? तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते । तस्मादनुत्पन्नस्याऽतदाकारस्य च

२ न निधानगता भग्नाः पुञ्जो नास्ति अनागते । निर्वृता नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमाः ॥ १ ॥

ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् सर्वग्रहणं प्रसज्येत । नैवम् , तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः । तदुत्पत्तावपि च योग्यताऽवश्यमेवेष्टव्या , अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्ये तत्तदर्थाऽसांनिध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थान् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः ? ।

तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् , ज्ञानस्य साकारत्वप्रसङ्गाच । अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यम् ? । इत्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साऽभ्युपेया । तत ।

" अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वाऽर्थरूपताम् । तस्मात्प्रमेयाऽधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " ॥ १ ॥

इति यत्किञ्चिदेतत् ।

अपिच, व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम् ? , यदि व्यस्ते, तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति , यथासंख्यं तदुत्पत्तेः तदाकारत्वाच । अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसज्यते, तयोरुभयोरपि सद्भावात् । ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत् , तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरज्ञानग्रा

हकत्वं प्रसज्येत, तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात् । तन्न योग्यतामन्तरेणाऽन्यद् ग्रहणकारणं पश्याम-इति।

अथोत्तरार्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते । तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः । तन्मतं चेदम्– ग्राह्यग्राहकादिकलङ्काऽनङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत् । बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते, तथाहि– कोऽयं बाह्योऽर्थः ? किं परमाणुरूपः, स्थूलावयविरूपो वा ?। न तावत् परमाणुरूपः, प्रमाणाऽभावात् । प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा ?। न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनबद्धकक्षम् । तद्धि योगिनां स्यात्, अस्मदादीनां वा ?। नाद्यम्; अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । न द्वितीयम्, अनुभवबाधितत्वात् । न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः, स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात् । नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः; अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सहाऽविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात् ।

किञ्च, अमी नित्या अनित्या वा स्युः?। नित्याश्चेत्, क्रमेणाऽर्थक्रियाकारिणो युगपद्वा ?।

---

१ योगाचाराः ।

न क्रमेण, स्वसमयभेदेनाऽनित्यत्वापत्तेः। न युगपत्, एकक्षण एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वापत्तिः। अनित्याश्चेत् क्षणिकाः, कालान्तरस्थायिनो वा ?। क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा ?। निर्हेतुकाश्चेत्, नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादनपेक्षत्वात्। अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम्। सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां स्थूलं किंचित्कारणं परमाणवो वा ?। न स्थूलं, परमाणुरूपस्यैव प्रधानस्याऽङ्गीकृतत्वात्। न च परमाणवः, ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः ?। सन्तश्चेत्, किमुत्पत्तिक्षण एव, क्षणान्तरे वा ?। नोत्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तेषाम्। अथ "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते" इति वचनाद् भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेत्, एवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्, ते च तेषामुपादानं स्युः, उभयत्र भवनाऽविशेषात्। न च क्षणान्तरे, विनष्टत्वात्। अथाऽसन्तस्ते तदुत्पादकाः, नहि एकान्तासत्त्वपक्षे सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात्। सदसत्पक्षस्तु "प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ?" इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव, तस्मान्न क्षणिकाः। नापि कालान्तरस्थायिनः, क्षणिकपक्षसदृशयोगक्षेमत्वात्।

किञ्च, अमी किं स्वसहकारिवियोगेऽपि क्रियैकीभावाद्युक्ताः, सहकारिणो वा ?। आद्ये

खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः। उदग्विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ?। असद्रूपं चेत्, शशविषाणादेरपि किं न करणम् ?। सद्रूपं चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था। तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः। तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते।

नापि स्थूलावयविरूपः, एकपरमाण्वसिद्धौ कथमनेकतत्सिद्धिः ?। तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम्। किञ्च, अयमनेकावयवाधार इष्यते। ते चावयवा यदि विरोधिनः, तर्हि नैकः स्थूलावयवी, विरुद्धधर्माध्यासात्। अविरोधिनश्चेत्, प्रतीतिबाधः, एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्ताऽऽवृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः। अपि च, असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येन, एकदेशेन वा वर्तते ?। कार्त्स्न्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात्; प्रत्यवयवं कार्त्स्न्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तेः। एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमविरोधः। सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्नाः, अभिन्ना वा ?। भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था। अभिन्नत्वे न केचिदंशाः स्युः। इति नास्ति बाह्योऽर्थः कश्चित्। किन्तु ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति, बाह्यार्थस्य

१ 'मबाधः' इत्यपि पाठः।

जडत्वेन प्रतिभासायोगात्। यथोक्तम्- “स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचरा”। अल-
ङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

“यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ?। न चेत्संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ?” ॥१॥

यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः ? इति चेत्। ननु निरालम्ब
न एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितः, निर्विषयत्वात्, आकाशकेशज्ञानवत्, स्वप्नज्ञानवद्
वेति। अत एवोक्तम्—

“नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥१॥
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते। वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते” ॥२॥ इति।

तदेतत्सर्वमवद्यम्, ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दः, ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति।
अस्य च कर्मणा भाव्यं, निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात्। न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञान-
मिति वाच्यम्; तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाभावात्। न हि सर्वथाऽगृहीतसत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रती
तिः। स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम्। तथा च महाभाष्यकारः—

१ 'तत्सर्वमवद्यम्' इति च।

"अणुहूयदिट्ठचिंतियसुयपयइवियारदेवयाणूवा। सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो" ॥१॥

यश्च ज्ञानविषयः स बाह्योऽर्थः। भ्रान्तिरियमिति चेत्। चिरं जीव, भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणापाटवादिनाऽन्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा, यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः। अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते, तर्हि प्रलीना भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्था। तथा च सत्यमेतद्वचः—

" आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः। रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते " ॥१॥

न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादवादिनां बाधां विदधते, परमाणुरूपस्य, स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात्। यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहितं—प्रमाणाभावादिति। तदसत्, तत्कार्याणां घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वं, योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम्। अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात्। अनुमानादपि तत्सिद्धिः, यथा—सन्ति परमाणवः, स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, इत्यन्तर्व्याप्तिः। न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः, स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात् आत्माकाशादेरपुद्गलकार्यत्वकक्षीकाराच्च। यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तत्तत्कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात् प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमवि-

१—अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैविकाऽनूपाः। स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः ॥ १ ॥

तथैव । यदपि किञ्चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथञ्चिद्विरोध्यनेकावयवाविष्व-
ग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते । तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं
तत्कथञ्चिदुपेयत एव, तावदवयवात्मकत्वेन तस्यापि कथञ्चिदनेकरूपत्वात् । यच्चोपन्यस्तम्– अपि
च, असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्ततेत्यादि । तत्रापि विकल्पद्वयानभ्युपगम एवोत्त-
रम्, अविष्वग्भावेनावयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात् । किञ्च, यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किमि-
दानीं नियताकारं प्रतीयते 'नीलमेतत्' इति ? । विज्ञानाकारोऽयमिति चेत् । न, ज्ञानाद् बहि-
र्भूतस्य संवेदनात् । ज्ञानाकारत्वे तु 'अहं नीलम्' इति प्रतीतिः स्यान्न तु 'इदं नीलम्' इति ।
ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचित् 'अहम्' इति प्रतिभासः, कस्यचित् 'नीलमेतत्'
इति चेत् । नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थितस्याभावात् । तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीय-
ते तदेवापरेण त्वमिति प्रतीयते । नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः, सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात् ।
भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः, तस्य
भ्रान्तत्वात् । स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत् । ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति ?,
कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः ?, प्रतियोगिशब्दो ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते । स्वरूपस्यापि

भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत् । हन्त ! प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न वास्तवः ?। भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेत्। ननु कुत एतत् ?। अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत् । किं तदनुमानमिति पृच्छामः ?। यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते, यथा सचन्द्रादसचन्द्रः, नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थः, इति व्यापकानुपलब्धिः– प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्यानुपलब्धिः, भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात् , इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेत् । न, संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात् । ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्, तत्परसंवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति, स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम् । तदेवमनयोर्युगपद्ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति, अभेदश्च नास्ति । इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धाऽनैकान्तिकत्वम् ।

असिद्धश्च सहोपलम्भनियमः 'नीलमेतत्' इति बहिर्मुखतयाऽर्थेऽनुभूयमाने तदानीमेवाऽन्तरस्य नीलानुभवस्याऽननुभवात् । इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम् ?। अपि च, प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाऽबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभः, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वम्, इत्यन्योन्याश्रयदोषोऽपि दुर्निवारः। अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा

प्रतीतिः कुतः ? । न हि तत्र विवक्षितदेशोऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः । वास-
नानियमात्तदारोपनियम इति चेत् । न, तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात् । सति ह्यर्थ-
सद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवः , तद्देशा च तत्पूर्विका वासना । बाह्यार्थाभावे तु तस्याः
किंकृतो देशनियमः ? । अथास्ति तावदारोपनियमः । न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो
घटते । बाह्यश्चार्थो नास्ति । तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत् । तद्वासनावैचित्र्यं
बोधाकारादन्यत् , अनन्यद्वा ? । अनन्यच्चेत् । बोधाकारस्यैकत्वात्कथं तासां परस्परतो विशेषः ? ।
अन्यच्चेत् । अर्थे कः प्रद्वेषः , येन सर्वलोकप्रतीतिरपह्नूयते ? । तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः । तथा
च प्रयोगः—विषयाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात् । विरुद्धधर्माध्या-
सश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः , अर्थस्य च बहिः , ज्ञानस्यापरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात् ,
ज्ञानस्यात्मनः सकाशात् , अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः , ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वात् , अर्थस्य
च जडरूपत्वादिति । अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि संग-
मिमङ्गति । न चैतदपह्नोतुं शक्यमिति । अत एवाह स्तुतिकारः “ न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवि
त् ” इति । सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित् । स्वसंवेदनपक्षे तु

संवेदनं संवित् ज्ञानम् , तस्या अद्वैतम् , द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिके-ऽणि, न द्वैतमद्वैतं बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वं संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युप-गम इत्यर्थः , तस्य पन्था मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन् ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत् । किमित्याह– "नार्थसंवित्" । येयं बहिर्मुखतयाऽर्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः । एतच्चानन्तरमेव भावितम् । एवं च स्थिते सति किमित्याह– "विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम्" इति । सुगतो मायापुत्रस्तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातमिन्द्रजालमिवेन्द्र-जालं, मतिव्यामोहविधायित्वात् , सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम्– पूर्वं विलूनं पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम् ; यथा किञ्चित् तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति, एवं तत्कल्पि-तमिदमिन्द्रजालं तृणप्रायं धारालयुक्तिशस्त्रिकया छिन्नं सद् विशीर्येत इति । अथवा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवन्तत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विदग्धजनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति, तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्र-माणतत्तत्फलाभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणानभिज्ञं लोकं व्यामो-हयमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरारुतामेव सेवत इति । अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः ।

॥१९८॥

सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगत इत्युशन्ति। तच्चायुक्तं। तस्य शोभनज्ञानता, येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम्। इति काव्यार्थः ॥ १६ ॥

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयांस्तत्स्वीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकाराऽनङ्गीकारलक्षणे पक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थाऽसिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह।

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम् ॥१७॥

व्याख्या– शून्यः शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत न प्राप्नुयात्। किंवत्? परवत् इतरप्रामाणिकवत्। वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः। यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते, नैवं नायम्, तस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात् " सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते " इत्यादिवचनात्। अप्रामाणिकश्च शून्यवादाभ्युपगमः

कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति, प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसङ्गात् ? । अथ चेत् स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः–कुप्येदित्यादि, प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणादस्मै शून्यवादिने, कृतान्तस्तत्सिद्धान्तः कुप्येत्कोपं कुर्यात् सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः । यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति, एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति ।

किञ्च, स्वागमोपदेशेनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात् ? । किञ्च, प्रमाणं प्रमेयं विना न भवतीति प्रमाणानङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता, न पुनः शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बरं, शून्यवादस्याऽपि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशतेतु कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः– यदसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्मै कृतान्तो यमराजः कुप्येत् , तत्कोपो हि मरणफलः ; ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमसौ प्रमाणपदु निग्रहस्थानापन्नत्वान्मृत एवेति ।

एवं सति ' अहो इत्युपहासप्रदर्शनार्थं ' त्वय्यसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्येवंशीला-
स्त्वदसूयिनस्तान्त्वदन्तरीयास्तैरिदं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितमहो ! सुदृष्टं साधु दृष्टम्। विपरीत-
लक्षणयोपहासात् सम्यग् दृष्टमित्यर्थः , अत्राऽसूयधातोस्ताच्छीलिकणिनः प्राप्तावपि बाहुलका-
णिपन्। अथवाऽसूयेणामित्यसूयिनस्त्वदसूयिनस्त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा। त्वदसू-
दृष्टमिति पाठेऽपि न किञ्चिद्बाधकं, असूयुशब्दस्योदन्तस्योत्पनादिभ्योपनास्यपरिशुद्धयादौ
मत्सरिणि प्रयोगादिति ।
इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः— प्रमाता, प्रमेयं, प्रमाणं, प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पित-
मवस्त्वेव, विचारासहत्वात् , तुरङ्गशृङ्गवत् । तत्र प्रमाता तावदात्मा, तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वा-
भावादभावः , तथाहि— न प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिरिन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात्। यत्तु अहङ्कारप्रत्य-
येन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनम् , तदप्यनैकान्तिकम् , तस्याहं गौरः श्यामो वेत्यादौ शरीरा-
श्रयतयाऽप्युपपत्तेः । किञ्च, यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात्,
आत्मनः सदा सन्निहितत्वात् , कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम् , यथा
सौदामनीज्ञानमिति। नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाऽग्रहणात् । आगमानां च परस्परविरुद्धा-

ध्वादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम् । तथाहि– एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः, अभियुक्ततरेणाऽपरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते, स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम् ?, इति नास्ति प्रमाता।

प्रमेयं च बाह्योऽर्थः, स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः । प्रमाणं च स्वपराऽवभासि ज्ञानम्, तच्च प्रमेयाऽभावे कस्य ग्राहकमस्तु ?, निर्विषयत्वात् । किं च, एतत् अर्थसमकालम्, तद्भिन्नकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत ? । आद्यपक्षे, त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्राऽवभासेरन् ; समकालत्वाऽविशेषात् । द्वितीये तु, निराकारम्, साकारं वा तत्स्यात् ? । प्रथमे, प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः । द्वितीये तु, किमयमाकारो व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात् ? । अव्यतिरेके, ज्ञानमेवायम्, तथा च निराकारपक्षदोषः। व्यतिरेके, यद्ययं चिद्रूपः, तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात्, तथा च, अयमपि निराकारः ; साकारो वा तद्वेदको भवेत् ? ; इत्यावर्त्तनेनाऽनवस्था । अथ, अचिद्रूपः, किमज्ञातः, ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात् ? । प्राचीने विकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात् । तदुत्तरे तु, निराकारेण, साकारेण वा ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात्, इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति ।

इत्थं प्रमाणाऽभावे तत्फलभूता प्रमितिः कुतस्तनी ? , इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति। तथा च पठन्ति– " यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा। यदेतत् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ? " ॥ १ ॥ इति पूर्वपक्षः । विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम् ॥

अत्र प्रतिविधीयते– ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तम् , तत् शून्यम् , अशून्यं वा ? । शून्यं चेत् सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नाऽनेन किञ्चित्साध्यते, निषिध्यते वा । ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था । अशून्यं चेत् । प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः , भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् , तत्रापि निष्कम्पैव सा भगवती । तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दूष्यते । तत्र यत्तावदुक्तम्– प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः , इन्द्रियगोचराऽतिक्रान्तत्वादिति, तदसिद्धसाधनम्। यत्पुनः , अहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् । तदसिद्धम् , ' अहं सुखी, अहं दुःखी ' इति–अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः । तथा चाहुः —

१ भवद्वचनेऽपि २ तत्त्वचतुष्टयी ।

" सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते । मतुवर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥ १ ॥
इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् । अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥ २ ॥ "

यत्पुनः 'अहं गौरः, अहं श्यामः' इत्यादिबहिर्मुखः प्रत्ययः, स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते; यथा- प्रियभृत्येऽहमिति व्यपदेशः।

यच्च, अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्, तत्रेयं वासना- आत्मा तावदुपयोगलक्षणः, स च साकाराऽनाकारोपयोगयोरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति। अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव, तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रियाऽनिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्त्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव। यथा- बीजं सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति; नान्यथा। न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की; तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात्। एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम्।

यदप्युक्तम्- तस्याऽव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति। तदप्यसारं; साध्याऽविना-

१ वेद्यमानं। २-नुवेधात्तु।

भाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः, तथाहि— रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्, यश्चास्याः कर्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्, तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनाऽस्वतन्त्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाऽचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात्। यदि हि, इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात्, तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वाऽनुभूतार्थस्मृतेः, 'मया दृष्टम्, स्पृष्टम्, घ्रातम्, आस्वादितम्, श्रुतम्' इतिप्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च कुतः संभवः ?। किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम्। अस्ति च, तथाविधफलाद्रे रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणम्, दन्तोदकसंप्लवाऽन्यथानुपपत्तेः। तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव, ताभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्द्रष्टा कश्चिदेकोऽनुमीयते। तस्मात्करणान्येतानि, यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा। तथा, साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताऽहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत्। शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितम्, विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत्। यश्चाऽस्याऽधिष्ठाता, स आत्मा, सारथिवत्। तथाऽत्रैव पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत्, वायुश्च-प्राणाऽपानादिः, यश्चास्याऽधिष्ठाता, स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत्। तथाऽत्रैव

पक्षे, इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद् , दारुयन्त्रवत् । तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतम् , वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद् , गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत्। वृक्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेत् । न ; तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात्। यश्चैषां कर्त्ता, स आत्मा, गृहपतिवत् । वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादेरवसेयम् , किंचिद्वक्ष्यते च ।

तथा प्रेर्यं मनः , अभिमतविषयसंबन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद् , दारकहस्तगतगोलकवत् । यश्चास्य प्रेरकः , स आत्मा, इति । तथा, आत्म-चेतन-क्षेत्रज्ञ-जीव-पुरुषादयः पर्याया न निर्विषयाः , पर्यायत्वाद् , घट-कुट-कलशादिपर्यायवत् , व्यतिरेके षष्ठभूतादि। यश्चैषां विषयः , स आत्मा । तथा, अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात् , यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः , स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति, यथा घटादिः , व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः । तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वाद् , रूपवत् , योऽसौ गुणी, स आत्मा । इत्यादिलिङ्गानि । तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः ।

आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वम् , तेषामप्रामाण्यमेव । यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः, स प्रमाणमेव, कष-च्छेद-तापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात् । कषादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः।

न च वाच्यमात्मा क्षीणसमस्तदोषः, तथाविध चासत्त्वं कस्यापि नास्तीति। यतः—रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तद्रूपस्य प्रकर्षोऽपकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावरकजलदपटलवत्। तथा चाहुः—

"देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः" ॥१॥ इति

यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः, स एवासौ भगवान् सर्वज्ञः। अथ अनादित्वाद् रागादीनां कथं प्रक्षयः?, इति चेत्। न, उपायतस्तत्सम्भवात्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवाऽनादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम्। तत्सिद्धिस्तु—ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात्, आकाशे परिमाणतारतम्यवत्। तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाऽविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः। तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव। तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम्, —

" रागाद् वा द्वेषाद्वा मोहाद् वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।

यस्य तु नैते दोषास्तस्याऽनृतकारणं किं स्यात् ? " ॥ १ ॥ इति वचनात् ।
प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति । सिद्ध आगमादप्यात्मा , "एगे आया" इत्यादिवच
नात् , तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता ।
प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम् । तत्सिद्धौ च 'प्रमाणं ज्ञानम्' तच्च प्रमेया-
भावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात्.' इति प्रलापमात्रम् । करणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाद् ,
लवनादिषु तथादर्शनात् । यच्च, अर्थसमकालमित्याद्युक्तम् । तत्र, विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव।
अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाऽऽकलनकुशलम् , स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् , शब्दानुमाने
च त्रैकालिकस्याऽप्यर्थस्य परिच्छेदके । निराकारं चैतद् द्वयमपि । न चातिप्रसङ्गः , स्वज्ञानावरण-
वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः । शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः ।
प्रमितिस्तु, प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव । न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा । फलं च द्विधा,
आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात् , तत्राऽऽनन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् , पारम्पर्येण केव-
लज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् , शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः । इति सुव्यव-

॥१७८॥

१ एक आत्मा ॥

स्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम्।

ततश्च— "नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥१॥ इत्युन्मत्तभाषितम्।

किञ्च, इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते, अप्रमाणाद्वा?[1]। न तावदप्रमाणात्, तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्। अथ प्रमाणात्, तन्न। अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतम्, असांवृतं वा स्यात्?। यदि सांवृतम्, कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः?, तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः। अथ तद्ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहाराऽवास्तवत्वप्रतिज्ञा, तेनैव व्यभिचारात्। तदेवं पक्षद्वयेऽपि 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः। इति काव्यार्थः॥

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकाऽऽमुष्मिकव्यवहाराऽनुपपत्त्यर्थसमर्थनमविमृश्यकारितं दर्शयन्ना—ह

१ अभिन्नेऽपि नरनारीणां प्रतीतिः सेष्टसिद्धेः  २ शून्यवादासिद्धौ  ३ 'कारिताकारितं' इति क पुस्तकपाठः

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोग-भव-प्रमोक्ष-स्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो! महासाहसिकः परस्ते ॥१८॥

व्याख्या—कृतप्रणाशदोषम्, अकृतकर्मभोगदोषम्, भवभङ्गदोषम्, प्रमोक्षभङ्गदोषम्, स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् दोषान्; साक्षादित्यनुभवसिद्धान्, उपेक्ष्याऽनादृत्य, साक्षात् कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः; सर्वभावानां क्षणभङ्गम्—उदयानन्तरविनाशरूपां क्षणक्षयिताम्, इच्छन् प्रतिपद्यमानः, ते तव, परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः—सौगत इत्यर्थः; अहो! महासाहसिकः— सहसा अविमर्शात्मकेन बलेन, वर्तते साहसिकः। भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते, महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी। इति मुकुलितार्थः।

विवृतार्थस्त्वयम्— बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति; न पुनर्मौक्तिककणनिकराऽनुस्यूतैकसूत्रवत्, तदन्वयिनमेकम्। तन्मते, येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा

कृतम्, तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः, यस्य च फलोपभोगः, तेन तत् कर्म न कृतम्। इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य कृतप्रणाशः, स्वकृतकर्मफलाऽनुपभोगात्। उत्तरज्ञानक्षणस्य चाऽकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः, फलोपभोगादिति। अत्र च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः, तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः। पश्चानुलोम्यादित्थमुपन्यासः।

तथा भवभङ्गदोषः– भव आर्जवीभावलक्षणः संसारः, तस्य भङ्गो विलोपः, स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते– परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः, परलोकिनः कस्यचिदभावात्। परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेण भवति। तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वयं नाशात् केन नामोपभुज्यतां जन्मान्तरे ?। यच्च मोक्षाकरगुप्तेन– " यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसन्धत्ते, यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि " इति भवपरम्परासिद्धये प्रमाणमुक्तम्, तद् व्यर्थम्। चित्तक्षणानां निरवशेषविनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसंधानाऽयोगात्। द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसंधानमनुसंधातृणा मिला केनचिदिष्यते। यश्चानयोः प्रतिसंधाता, स तेन नाभ्युपगम्यते, स ह्यात्माऽन्वयी। न च प्रतिसंधत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः, कार्यहेतुप्रसङ्गात्, तेन वादिनाऽस्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनो-क्तत्वात्, स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति, भिन्नकालभाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुत

स्तादात्म्यम् ?। युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेय–प्रतिसन्धायकत्वाऽभावापत्तिः, युगपद्भावित्वेऽवि-शिष्टेऽपि किमत्र नियामकम् ?, यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति। अस्तु वा प्रति-सन्धानस्य जननमर्थः ; सोऽप्यनुपपन्नः। तुल्यकालत्वे, हेतुफलभावस्याऽभावात्। भिन्नकालत्वे च, पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात् उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम् ?; इति यत्किञ्चिदेतत्।

तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः– प्रकर्षेणाऽपुनर्भावेन कर्मबन्धनाद् मोक्षो मुक्तिः प्रमोक्षस्तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति, कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ?। ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ?। न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात् तेनैव सार्द्धं दध्वंसे, सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु, आत्माऽभ्युपगमप्रसङ्गः।

अपि च, बौद्धाः "निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः" इत्याहुस्तच्च न घटते ; कारणाऽभावादेव तदनुपपत्तेः– भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते, स

१ सर्वं क्षणिकमित्याद्युल्लिखितार्थविषयाकारादिकबुद्धिसन्तानोद्भवो भावनाप्रचयस्तस्य। अपि चद्दृताम।

न स्थिरैकाध्यक्षाभावात् विशेषोऽनाऽऽधायकः, प्रतिक्षणमपूर्वपूर्वम् उपजायमानो निरन्वयविनाशी, गगनकुसुमाऽभ्यासवत् अनासादितप्रकर्षो न स्फुटाऽभिज्ञानजननाय प्रभवति, इत्यनुपपत्तिरेव तस्य। नैरात्म्यचित्तक्षणानां स्वाभाविक्या सदृशारम्भशक्तेरसदृशारम्भ प्रत्यशक्तेश्च, अकस्मादनुच्छेदात्। किं च, समस्तचित्तक्षणाः पूर्वं स्वरसपरिनिर्वाणाः, अयमपूर्वो जातः सन्तानश्चैको न विद्यते, बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ, न विषयभेदेन वर्तेते। तत् कस्येयं मुक्तिर्यं एतदर्थं प्रयतते?। अपि हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्याय। मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः, क्षणक्षयपक्षे त्वन्यः क्षणो बद्धः, क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति प्राप्नोति मोक्षाऽभावः।

तथा स्मृतिभङ्गदोषः, तथा हि– पूर्वबुद्धयाऽनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते, अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः

१ ननु स्थापितसंस्काराभावेऽपि पूर्वपूर्वज्ञानक्षणवासित एवोत्तरोत्तरक्षण उत्पद्यत इत्यतः कार्यकारणभावसन्तानवशात् स्मृतिरिति।

२– ननु एकैकशः अभ्यासस्य आरम्भेऽपि प्रथमं परोक्षतयैव गम्य निर्मलत्वान्ते निर्मलतमस्य साक्षात्कार-व्यापकत्वान्न दोष इत्यत आह किं चेति।

सर्वैः स्मर्येत, स्मरणाऽभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः ?, तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्– पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते। अथ स्यादयं दोषः, यद्यविशेषेणाऽन्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते। किन्तु, अन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावाद् एव स्मृतिः, भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति, तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वं बुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्, एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्, न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः। अथ—

"यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा"॥ १॥ इति।

कर्पासे रक्तताद्दृष्टान्तोऽस्तीति चेत्। तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसंभवात्, तथाहि– अन्वयाद्यसंभवान्न साधनम्; न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः, कर्पासे रक्ततावदित्यन्वयः संभवति, नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति। असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि 'ततोऽन्यत्वात्' इत्यस्य हेतोः 'कर्पासे रक्ततावत्' इत्यनेन

कश्चिद्दोषं प्रतिपद्यते।

किञ्च, यद्यनन्वयेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात्। अथ नायं प्रसङ्गः, एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्। तदप्ययुक्तम्, भेदाऽभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरम्परातः सन्तानस्याऽभेदे हि क्षणपरम्परैव सा, तथा च सन्तान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्। भेदे तु, पारमार्थिकः, अपारमार्थिको वाऽसौ स्यात्?। अपारमार्थिकत्वेऽस्य तदेव दूषणम्, अकिञ्चित्करत्वात्। पारमार्थिकत्वे, स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा?। क्षणिकत्वे, सन्तानिनिर्विशेष एवायम्, इति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकारिणा?। स्थिरश्चेत् प्राप्तस्तर्हि सत्ताभेदनिरोधित्व प्रतिज्ञा। इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम्। तदभावे च, अनुमानस्याऽनुत्थानमित्युक्तं प्रागेव। अपि च, स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गण-प्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन्—"इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः!" ॥१॥

इतिवचनस्य च का गतिः?। एवमुत्पत्तिमुत्पादयति, स्थितिं स्थापयति, जरा जर्जरयति,

१ एकनवत्या पूर्वकल्पस्मिन्।

विनाशो नाशयतीति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः, क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात्। तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिप्रैति, तस्य महत् साहसम्। इति काव्यार्थः।

अथ ताथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकर्ण्य, इत्थं प्रतिपादयिष्यन्ति—यत्सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकाऽऽमुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एव, इति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाऽभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह—

**सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाऽभेद-भेदा-ऽनुभयैर्घटेते।**
**ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोतन्यायात् त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ।१९।**

सा शाक्यपरिकल्पिता, त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्याऽनुस्यूतप्रत्ययजनिका, एकसूत्रस्थानीया सन्तानाऽपरपर्याया वासना। वासनेति— पूर्वज्ञानजनि-

तानुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः, सा च क्षणस्य स्मृतिसत्दर्शनप्रसिद्धा, मद्यापफलिकावत् नवनवोत्पत्त मालाग परस्परशक्षणपरम्परा, एते द्वे अपि अभेदे-भेदा-ऽनुभयैर्न घटेते- न तावदभेदेन तादात्म्येन, ते घटेते। तथाहि अभेदे, वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा?। न युगम्, यदि यस्मादभिन्नं न तत् ततः पृथगुपलभ्यते, यथा घटाद् घटस्वरूपम्। केवलायां वासनायामन्वयि-स्वीकारः, वास्याऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु?। इति तस्या अपि न स्वरूपं व्यवतिष्ठते। क्षणपरम्परामात्राऽङ्गीकरणे च प्राप्त एव दोषः।

न च भेदेन ते युज्येते। सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यात्, अक्षणिका वा?। क्षणिका चेत्। तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक् कल्पनं व्यर्थम्। अक्षणिका चेत्। अन्वयिपदार्था-भ्युपगमेनाऽऽगमबाधः, तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम्।

अनुभयपक्षेऽप्यऽपि न घटेते। स हि कदाचित् एवं ब्रूयात्, नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽ-भेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं, किंत्वनुभयमिति। तदप्यनुचितम्, भेदाऽभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरे-कतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्याऽवश्यंविधिभावात् अन्यतरपक्षाऽभ्युपगमः, तत्र च प्रागुक्त एव दोषः। अथवाऽनुभयपक्षेऽसत्त्वप्रसङ्गः, भेदाऽभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्याऽनासि-

त्वात । अनार्हतानां हि वस्तुना अवश्यं भिन्नेन वा भाव्यम् , अभिन्नेन वा ; तदुभयाऽतीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात् । एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परा–वासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद् भेदाऽभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः । न च " प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः ? " इतिवचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यं; कुर्कुटसर्प–नरसिंहादिवद् जात्यन्तरत्वादनेकान्त-पक्षस्य ।

नन्वार्हतानां वासना–क्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति । तत्कथं तदाश्रयभेदाभेदचिन्ता चरितार्था ? इति चेत् । नैवम् , स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरम्परोत्पत्तिरभिमतैव, तथा च क्षणिकत्वम् । अतीताऽनागतवर्तमानपर्यायपरम्परानुसन्धायकं चान्वयिद्रव्यम् , तच्च वासनेति संज्ञान्तरभाक्त्वेऽप्यऽभिमनमेव । न खलु नामभेदाद् वादः कोविदः कोविदानाम् । सा च प्रतिक्षणोत्पदिष्णुपर्यायपरम्परा अन्वयिद्रव्यात् कथंचिद् भिन्ना, कथंचिदभिन्ना ; तथा तदपि तस्याः स्याद्भिंन्न स्याद् भिन्नम् ; इति पृथक् प्रत्ययव्यपदेशविषयत्वाद् भेदः , द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनादभेदः । एतच्च सकलादेशविकलादेशव्याख्याने पुरस्तात् प्रपञ्चयिष्यामः ।

अपि च, बौद्धमते वासनाऽपि तावन्न घटते, इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता ।

तदुक्तं हि– पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। न चाऽस्थिरयोर्भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धयोश्च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते, स्थिरस्य सम्बद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति। अथ पूर्वचित्तसमुत्थात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते, सोऽयं शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना, तथाहि– पूर्वस्मिन् रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं यदेतत् षड्विधम्– पञ्च रूपादिविज्ञानान्यऽविकल्पकानि, षष्ठं च विकल्पविज्ञानम्, तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम्, तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति। तदपि न, अस्थिरत्वाद् वासकस्याऽसम्बन्धाच्च। यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी, स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति– वर्तमानस्याऽऽधानाऽपनेयोपनेयत्वेनाऽविकार्यत्वात्, तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यतीति। नाप्यनागते उपकारं करोति, तेन सहाऽसम्बद्धत्वात्, असम्बद्धं च न भावयतीत्युक्तम्। तस्मात् सौगतमते वासनाऽपि न घटते। अत्र च स्तुतिकारेणाऽभ्युपेत्याऽपि ताम्, अन्वयिद्रव्यरूपपक्षापेक्षया भेदाभेदादिपक्षा विचिन्तितेति भावनीयम्।

अथोत्तरार्धं व्याख्या– तत इति वक्तव्येऽपि दोषसङ्घातस्वरूपाणि भवभ्रमणानि भेदाभेदरभसादनपास्तानि, परं कुतीर्थ्याः– प्रकरणात् सौगताः मृतदीपाः, अयन्तु भ्रियन्ताम्।

अत्रोपमानमाह– तटादर्शीत्यादि–तटं न पश्यतीति तटाऽदर्शी, यः शकुन्तपोतः पक्षिशावकः, तस्य न्याय उदाहरणम्, तस्मात्। यथा किल कश्चिदऽपारपारावारान्तः पतितः काकादिशकुनिशावको बहिर्निर्जिगमिषया प्रवहणकूपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये मुग्धतयोड्डीनः, समन्ताज्जलैकार्णवमेवाऽवलोकयंस्तटमदृष्ट्वैव निर्वेदाद् व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते; गत्यन्तराऽभावात्, एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाऽभेदपक्षमनिच्छयाऽपि कक्षीकुर्वाणास्त्वच्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम्। न हि स्वामिबलविकलनामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपोषाय नीतिशालिनाम्। त्वदुत्कीर्णानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथाऽवस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं नान्यदिति ज्ञापनार्थम्; अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्; इतरथाऽन्धगजन्यायेन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात्। श्रयन्तीति वर्तमानान्तं केचित् पठन्ति, तत्राप्यऽदोषः।

अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः, पोतसमानं त्वच्छासनम्, कूपस्तम्भसन्निभः स्याद्वादः, पक्षिपोतोपमा वादिनः, ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोड्डयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना

अपि तस्मात् इष्टार्थसिद्धिमप्रपन्ना स्याद्वाद स्याद्वादरूपकृपरसम्भावकल्पलताफलितशासनम-
यद्योपसर्गाणमेव यदि शरणीकुर्वते, तदा तेषां भवार्णवात् यद्विनिस्तरणमनोरथः सफलतां कलयति, नाऽन्यथा इति काव्यार्थः ।

एवं क्रियावादिनां मायाभ्युपगन्तॄणां कतिपयमदनिग्रहं विधाय, साम्प्रतमक्रियावादिना लौकायतिकानां मतं सर्वाऽसमञ्जसत्वादन्ते उपन्यस्यन्, तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

विनाऽनुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य
न साम्प्रतं वक्तुमपि क चेष्टा क्व दृष्टमात्र च हहा ! प्रमादः ।२०।

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः । तत्र मन्यते– ननु पश्चात् लिङ्गसम्बन्धग्रहणस्मरणानन्तरम्, सोऽयं परिच्छिद्यते, देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण, इत्यनुमानं प्रमाणं तत् स्वार्थानुमानम्, तेनाऽनुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसन्धिं पराभिप्रायम्, असंविदानस्य सम्यग् अजानानस्य, तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः– पूर्वेषां वादिना

मास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षोदः कृतः । नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती, कुत एव तेन सह क्षोदः ? इति तुशब्दार्थः । नास्ति परलोकः, पुण्यम्, पापम्, इति वा मतिरस्य "नास्तिकाऽऽस्तिकदैष्टिकम्" ॥ ६ । ४ । ६६ ॥ इति निपातनाद् नास्तिकः, तस्य नास्तिकस्य लोकायतिकस्य, वक्तुमपि न साम्प्रतं वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम्, ततस्तूष्णीम्भाव एवाऽस्य श्रेयान् दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी ।

वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते । परेण चाऽप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नाऽसौ सतामवधेयवचनो भवति, उन्मत्तवत् । ननु कथमिव तूष्णीकतैवाऽस्य श्रेयसी ?, यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम्; इत्याशङ्क्याऽऽह– 'क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च' इति । क्वेति वृहदन्तरे, चेष्टा इङ्गितम्– पराभिप्रायरूपस्यानुमेयस्य लिङ्गम् । क्व च दृष्टमात्रम् । दर्शनं दृष्टं, भावे क्तः दृष्टमेव दृष्टमात्रं प्रत्यक्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात् । अत एव दूरमन्तरमेतयोः । न हि प्रत्यक्षेणाऽतीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्याः, तस्यैन्द्रियकत्वात् । मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चये अनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम् । तथा हि– मद्वचनश्रवणाऽभिप्रायवानयं पुरुषः,

तादृगनुपपत्त्यादिवैचित्र्याऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति । प्रमत्तश्च दृष्ट्वा । प्रमादः-दृष्ट्वा इति खेदे चाहो ! तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणाऽपह्नुते । अत्र संपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्मास्ति, तत्कथमत्रानश् ? । अत्रोच्यते- अत्र संवेदितुं शक्नः संविदान इति कार्यम्, "वयःशक्तिशीले" ॥ ५ । २ । २४ ॥ इति शक्तौ शानविधानात् । ततश्चायमर्थः -अनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग् वेदितुमशक्तस्येति । एवं परबुद्धिज्ञानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽप्यनुमानं हठाद् अङ्गीकारितः । तथा प्रकारान्तरेणाऽप्ययमङ्गीकारयितव्यः, तथा हि-चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाऽव्यभिचारिणीरुपलभ्य, अन्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च सन्निहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याऽप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते । न च इयं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याऽप्रामाण्यव्यवस्थापकम्, पर

१ हैमसूत्र । २ प्रमाणता अप्रमाणता चेत्यर्थः । ३ 'परप्रतिपत्तेः' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे । ४ चार्वाक ।

प्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत। परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, संनिहितमात्रविषयत्वात् तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः[1]।

किञ्च, प्रत्यक्षस्याऽप्यर्थाऽव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्। कथमितरथा स्नान-पाना-ऽवगाहना-द्यर्थक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि[2] जलज्ञाने न प्रामाण्यम्[3]? । तच्च अर्थप्रतिबद्धलिङ्ग-शब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमाना-ऽऽगमयोरप्यर्थाऽव्यभिचारादेव किं नेष्यते? । व्यभिचारिणोरप्य-नयोर्दर्शनाद् अप्रामाण्यमिति चेत्[4]। प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषाद् निशीथिनीनाथयुगलावल-म्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राऽप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्। इतरत्रापि तुल्य-मेतत् अन्यत्र पक्षपातात्[5]। एवं च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थाऽनुपपत्तेः, तन्मूला जीव-पुण्या-पुण्य-परलोकनिषेधादिवादा अप्रमाणमेव। एवं नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः। तथा च द्रव्यालङ्कारकार उपयोगवर्णने- "न चायं भूतधर्म्मः सत्त्वकठिनत्वादिवद्, मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्तिवद् वा प्रत्येकमनुपलम्भात्। अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः। कायाऽऽकारपरिण-

---

१ बालहठः। २ मृगजल-। ३- प्रामाण्यम्। ४ 'न' इत्यधिकं पुस्तकान्तरे। ५ पक्षपातं विहायेत्यर्थः।

तानुमानप्रामाण्यस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः—

"धर्मः फलं च भूतानामुपयोगो भवेद् यदि। प्रत्येकमुपलम्भः स्यादुत्पादो वा विलक्षणात्॥ १ ॥" इति काव्यार्थः।

एवमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षेपमाख्याय साम्प्रतमनाद्यऽविद्यावासनाप्रवासितसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते, तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

**प्रतिक्षणोत्पाद-विनाशयोगि-स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः।**
**जिन! त्वदाज्ञामवमन्यते यः, स वातकी नाथ पिशाचकी वा।२१।**

प्रतिक्षणं प्रतिसमयम्, उत्पादेनोत्तराऽऽकारस्वीकाररूपेण, विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन, युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि। किं तत्?, स्थिरैकं कर्मतापन्नम्—स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम्। एकशब्दोऽत्र साधारणवाची। उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम्, अन्वयिद्रव्यत्वात्। यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः। इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता; पर्यायाणां कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदे-

करवशात् । एवं प्रत्यात्मक वस्तु, प्रत्यक्षमपीक्षमाणा' प्रत्यक्षमवलोकयन अपि, हे जिन ! रागादिजेत ! , त्वदाज्ञाम्– आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवाऽजीवादय' पदार्था यया सा आज्ञा आगम' शासनं , तथाऽऽज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां , भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम् , यः कश्चिदविवेकी, अवमन्यतेऽवजानाति, जात्यपेक्षमेकवचनमनादरा वा, स पुरुषपशुर्वातकी पिशाचकी वा– वातो रागविशेषोऽस्याऽस्तीति वातकी वातकीव वातकी, वातूल इत्यर्थ' , एव पिशाचकीव पिशाचकी, भूताविष्ट इत्यर्थ' । अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः, उपमानार्थो वा । स पुरुषपशवो वातकिपिशाचकिभ्यामधिरोहतीति तुलामित्यर्थः , " वातातीसारपिशाचात्कश्चान्त " ॥ ७ । २ । ६१ ॥ इत्यनेन मत्वर्थीयः , कश्चान्तः , एवं पिशाचकीत्यपि , यथा किल वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशात् अन्यथा प्रतिपद्यते, एवमयमप्येकान्तवादापस्मारपरवश इति ।

अत्र च जिनेति साभिप्रायम्– रागादिजेतृत्वाद्धि जिन' , ततश्च य' किल विगलितदोषकालुष्यतयाऽवश्यमवचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते, तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! , अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया, लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथ , तस्यामन्त्रणम् ।

वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। तथाहि– सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा ; परिस्फुटमन्वयदर्शनात्। लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्। प्रमाणेन बाध्यमानस्याऽन्वयस्याऽपरिस्फुटत्वात्। न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्—

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" ॥ १ ॥ इति वचनात्।

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च; अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात्। न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायाऽनुभवेन व्यभिचारः तस्य स्खलद्रूपत्वात्, न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाऽजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाऽविनाभावी भवेत्, न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः कस्यचिद् बाधकस्याऽभावात्।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ?। यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम् ? न

---

१ 'खल्वसौ' इत्यपि पाठः।

भिद्यन्ते चेत् । तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम् ? । तथा च—

"यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्र्यात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्र्यात्मकम् ?" ॥१॥

इति चेत् । तदयुक्तम्, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथंचिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि— उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवदिति । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असत आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयानुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव ।

न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि— उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

"घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोक प्रमोद माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥१॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥२॥"

१ श्रीसमन्तभद्रस्वामिकृता आप्तमीमांसा श्लो० ५९ । ६० ।

इति काव्यार्थः ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात् आस्तां तावत्साक्षाद् भवान्, भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

**अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।**
**इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥**

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु- जीवाऽजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव- अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः; त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम्, एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। अत एवाह- "अतोऽन्यथा" इत्यादि। अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन, सत्त्वं वस्तुतत्त्वमसूपपादं- सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यते इति सूपपादं न तथा असूपपादं; दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथा हि- तत्त्वमिति धर्मि, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्म्मः, सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथा-

नुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः । अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्
यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति, यथा किञ्चिदिन्दीवरम्, इति केवलव्यतिरेकी
हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् ।

अनन्तधर्मात्मकत्वं च– आत्मनि तावत् साकाराऽनाकारोपयोगिता, कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं,
प्रदेशाष्टकनिश्चलता, अमूर्तत्वम्, असंख्यातप्रदेशात्मकता, जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो
धर्माः । हर्ष– विषाद– शोक– सुख– दुःख– देव– नर– नारक– तिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः
धर्मास्तिकायादिष्वपि असंख्येयप्रदेशात्मकत्वम्, गत्याद्युपग्रहकारित्वम्, मत्यादिज्ञानविषयत्वम्

---

१– पक्षान्तर्गतत्वेनेत्यर्थः  २– श्रीहरिभद्रसूरिणा धर्मसंग्रहण्यां ५४६ गाथामारभ्य पञ्चविंशतिगाथाभिः समुपपादितम् ।
३– धर्मसंग्रहण्यां ५८१ गाथामारभ्य पञ्चविंशतिगाथाभिः प्रसाधितम् । ४– पञ्चसंग्रहटीकायां गाथा १६२ । १६३
५– धर्मसंग्रहण्यां ३६ गाथामारभ्य त्रयोविंशत्यधिकेन गाथाशतकेन जीवसत्ता प्रसाधिता ।

६– अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः । अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना । अतोऽस्ति च ते प्रदेशाश्च (तत्तद्देशावयवाश्च सति अविभागभागविशेषरूपत्वान्न प्रदेशा ) कायाश्च राशय इति अस्तिकायेन प्रकृष्टप्रदेशा कथ्यन्ते, तत्र तेषां वा काया अस्तिकाया । ता चतुर्धा धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकायश्च । एत एव कालेन सह पञ्च अजीवसामान्यमभि, जीवेन सह च षड् द्रव्याणीति कथ्यन्ते

तत्तदवच्छेदकाऽवच्छेद्यत्वम्, अवस्थितत्वम्, अरूपित्वम्, एकद्रव्यत्वम् निष्क्रियत्वमित्यादयः,
घटे पुनरामत्वम्, पाकजरूपादिमत्त्वम्, पृथुबुध्नोदरत्वम्, कम्बुग्रीवत्वम्, जलादिधारणाहरण
सामर्थ्यम्' मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वम्, नवत्वम्, पुराणत्वमित्यादयः। एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानाधर्म
ताऽभिज्ञेन शब्दानाऽर्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्।

अत्र चात्मशब्देनाऽनन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवृत्तिरूपमन्वयिद्रव्यं ध्वनितम्, ततश्च "उत्पाद-व्यय-
ध्रौव्ययुक्तं सत्" इति व्यवस्थितम्, एवं तावदर्थेषु। शब्देष्वपि उदात्ता-ऽनुदात्त-स्वरित-विवृत-
संवृत-घोषवद्-घोषता-ऽल्पप्राण-महाप्राणतादयः , तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः।
अस्य हेतोर-सिद्ध-विरुद्धा-नैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः। इत्येवमुल्लेखशेखराणि,

---

७-- तत्त्वार्थसूत्रे अ०५ सू० २९ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं पदार्थसामान्यस्य लक्षणम्। तत्र स्वजातित्वा-
परित्यागपूर्वकपरिणामान्तरप्राप्तिरूपत्वमुत्पादस्य लक्षणम्। स्वजातित्वापरित्यागपूर्वकपूर्वपरिणामविगमरूपत्वं
व्ययस्य लक्षणम्। स्वजातिस्वरूपेण व्ययोत्पादाभावरूपत्वं, स्वजातिस्वरूपेणानुगतरूपत्वं वा ध्रौव्यस्य लक्षणम्।

८-- दूषणोद्धारः।

ते तव प्रमाणान्यपि स्याद्वादसाधनवाक्यान्यपि — प्रास्तां तावत् साक्षात्कृतप्रपञ्चपर्यायोपनिपातो भवान् यावदेतान्यपि, कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः कुवादिनः कुत्सितवादिनः एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः, यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याऽऽकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीततत्तत्प्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रस्ततामश्नुवते — प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्, एकैकं त्वदुक्तं प्रमाणमप्ययोगव्यवच्छेदक्षममित्यर्थः ।

अत्र ‘ प्रमाणानि ’ इति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम्, एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्वालुकाऽनन्तगुणार्थत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात् । अथवा ‘ इत्यादिबहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति ’ इतिन्यायात् इतिशब्देन प्रमाणायाहृत्यमनुग्रहणात् पूर्वार्द्धे एकस्मिन् अपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनम् । इति काव्यार्थः ॥

१– ० त्रासका इत्यपि पाठः । २– स्वत एव प्रकाश उत्पन्नो यस्येत्यर्थः ।

अनन्तरमनन्तधर्म्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम् । तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह—

**अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम् ।**
**आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम् ॥२३॥**

समस्यमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु, अपर्ययमविवक्षितपर्यायम्— वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु— धर्माऽधर्माऽऽकाश-पुद्गल-काल-जीवलक्षणं द्रव्यषट्कम् । अयमभिप्रायः— यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाऽचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वक्तुमिष्यते तदा संक्षेपेणाऽभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाऽभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते— केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः, यथाऽऽत्माऽयं घटोऽयमित्यादि; पर्यायाणां द्रव्यादनतिरेकात्, अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसङ्ग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति, पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात् ।

१-- मक्षिप्त ।

॥२०४॥

पर्येति पर्येति, पर्याय, इत्यनर्थान्तरम्। अद्रव्यमित्यादि(शे)ना पुनरर्थे, स च पूर्वस्मात् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च–विविच्यमानं चेति, विवेकेन पृथगूपतयोच्यमानं पुनरेतत् वस्तु अद्रव्यमेव–अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः।

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते, तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम्। एवं घटोऽपि कुण्डली-ब्र-पृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागावयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्यं तद्व्यतिरिक्तं वस्तु। अत एव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति—

"भागा एव हि भासन्ते संनिविष्टास्तथा तथा। तद्वान् नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते" ॥१॥ इति।

ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकस्यापि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयाऽनर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता। अत एवाऽऽह वाचकमुख्यः– "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति। एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु

१ प्रतिभासन्ते इत्यर्थः। २ उमास्वाति।
३ तत्त्वार्थसूत्रे पञ्चमाध्यायस्यैकत्रिंशं सूत्रम्।

काकाऽवधारणाऽवगतिः ।

त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान्, नान्य इति काकाऽवधारणाऽवगतिः । तत्कथमेकमेव

नन्वन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव नन्वन्याभिधानप्रत्ययघोग्यं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम् ?, इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति–आदेशभेदेत्यादि– आदेशभेदेन सकलादेश–विकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन, उदिताः प्रतिपादिताः, सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयास्तत्र विप्रतिपद्यन्ते ?, इत्याह–" बुधरूपवेद्यम् " इति– बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः, प्रकृष्टा बुधा बुधरूपा नैसर्गिकाऽऽधिगमिकाऽन्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः, स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथास्थितवस्तुतत्त्वाऽनवबोधेन बुध- तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरन्यैः ।

१– कार्त्स्न्येन निश्चयतावोचनम् । २ – इदं सारमुत्कृष्टं, इदमसारं निकृष्टमिति विषयविभागः । ३– शाणा-रत्नादिनिघर्षणशीला सा चात्र स्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकस्तत्र निशाना तीक्ष्णीकृता बुद्धिर्येषां तैरित्यर्थः ।

ज्ञानफलाऽभावात्। तथा चागमः—

"सदसदविसेसणाओ भवहेउजदिच्छिओवलंभाओ। णाणफलाभावाओ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं"

अत एव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति, तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात्। सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति, सम्यग्दृशां सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेध विषयतयोन्नयनात्। तथा हि किल वेदे– "अजैर्यष्टव्यम्" इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽज-शब्दं पशुवाचकतया व्याचक्षते, सम्यग्दृशस्तु जन्माऽप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति। अत एव च भगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिना, "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति" इत्यादिवाक्य श्रीमदिन्द्रभूत्यादीनां द्रव्यगणधरदेवानां जीवादिनिषेधकतया प्रतिभासमाना अपि तदस्तित्वस्थापकतया व्याख्याताः।

---

१ 'श्रीविशेषावश्यकभाष्यम्,' गाथा ११५। २ सदसदविशेषणात् भवहेतुयदृच्छोपलम्भात्। ज्ञानफलाभावात् मिथ्यादृष्टेरज्ञानम्॥

तथा स्मार्ता अपि—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला" ॥१॥

इति श्लोकं पठन्ति। अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसंबद्धप्रलाप एव, यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव; तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति ?, इज्या-ध्ययन-दानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्माद् अन्यद् ऐदंपर्यमस्य श्लोकस्य, तथा हि—न मांसभक्षणे कृतेऽदोषः, अपि तु दोष एव, एवं मद्यमैथुनयोरपि। कथं नाऽदोषः ?, इत्याह—यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्— प्रवर्त्तन्त उत्पद्यन्तेऽस्यामिति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानम्, भूतानां जीवानाम्, तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः। प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनानां जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे—

आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु। आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं ॥१॥

मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए। उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतुणो ॥ २ ॥

---

१ मनुस्मृतिः ५। ५६। २ ऐदंपर्य- तात्पर्यम्। ३ रत्नशेखरसूरिकृतसम्बोधसत्ततिकागाथा ६६। ६५। ६३।

आमासु च पक्कासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु। आत्यन्तिकमुपपादो भणितस्तु निगोदजीवानाम् ॥ १ ॥

मद्ये मधुनि मांसे नवनीते चतुर्थके। उत्पद्यन्तेऽनन्ताः तद्वर्णास्तत्र जन्तवः ॥ २ ॥

मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं। केवलिणा पण्णत्ता सद्दहियव्वा सया कालं ॥३॥

तथाहि—

इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा। इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तंA उ उक्कोसं ॥४॥

पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं। वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसलागणाएणं ॥ ५॥

सप्तधातुकायां योनौ मिश्रिता एते, शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे—

पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि। उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ६ ॥

णवलक्खाण मज्झे जायइ इक्कस्स दुण्ह व समत्ती। सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥७॥

॥२०६॥

---

१ मैथुनसंज्ञारूढो नवलक्षं हन्ति सूक्ष्मजीवानाम्। केवलिना प्रज्ञापिता श्रद्धातव्या सदा कालम् ॥ ३ ॥

२ स्त्रीयोनौ संभवन्ति द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः। एको वा द्वौ वा त्रयो वा लक्षपृथक्त्वं चोत्कृष्टम् ॥ ४ ॥

पुरुषेण सह गतायां तेषां जीवानां भवति उपद्रवणम्। वेणुकदृष्टान्तेन तप्तायसशलाकाज्ञातेन ॥ ५ ॥

A केषांचिन्मते द्विप्रभृतिरानवभ्यः पृथक्त्वमुच्यते।

३ पञ्चेन्द्रिया मनुष्या एकनरभुक्तनारीगर्भे। उत्कृष्टं नवलक्षा जायन्ते एकवेलायाम् ॥ ६ ॥

नवलक्षाणां मध्ये जायते एकस्य द्वयोर्वा समाप्तिः। शेषाः पुनरेवमेव च विलयं व्रजन्ति तत्रैव ॥ ७ ॥

तदेवं जीवोपमर्दहेतुत्वाद् न मांसभक्षणादिकमदुष्टमिति प्रयोगः। अथवा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः– त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्त्तन्ते, न पुनर्विवेकिन इति भावः। तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह– "निवृत्तिस्तु महाफला" – तुरेवकारार्थः, "तुः स्याद् भेदेऽवधारणे" इति वचनात्। ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा; न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः। अत एव स्थानान्तरे पठितम्—

"वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम् ॥१॥
एकरात्रोपितस्याऽपि या गतिर्ब्रह्मचारिणः। न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर!" ॥२॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैः, तस्य सर्वविगर्हितत्वात्। तानेवंप्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतमतिप्रसङ्गेन।

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः?, कश्चायमादेशभेद इति?। उच्यते– एकत्र जीवादौ वस्तुनि, एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण, पृथग्भूतयोः समुदि-



१ अमरकोशे तृतीयकाण्डे २३८ श्लोक.।

२ मनुस्मृति ५ । ५३।

तयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते। तद्यथा— १ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः। २ स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः। ३ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधि-निषेधकल्पनया तृतीयः। ४ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधि–निषेधकल्पनया चतुर्थः। ५ स्याद् स्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधि–निषेधकल्पनया च पञ्चमः। ६ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधि–निषेधकल्पनया च षष्ठः। ७ स्यादस्त्येव स्यान्ना स्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधि निषेधकल्पनया, युगपद्विधि निषेधकल्पनया च सप्तमः। तत्र– स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणाऽस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रका लभावरूपेण, तथाहि–कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनाऽस्ति, नाऽऽप्यादिरूपत्वेन। क्षेत्रतः पाटलि पुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्या-मत्वेन, न रक्तादित्वेन। अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति। अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभि-मतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम्, इतरथाऽनभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत, प्रतिनियतस्वा-र्थानभिधानात्। यदुक्तम् —

" वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टाऽर्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् " ॥१॥

तथाऽप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनाऽपि सर्वप्रकारेणाऽस्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये ' स्याद् ' इति शब्दः प्रयुज्यते–स्यात् कथंचित् स्वद्रव्यादिभिरेवाऽयमस्ति ; न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्राऽपि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्––

" सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्राऽर्थात्प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः " ॥१॥

इति प्रथमो भङ्गः ।

स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः, स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वाऽनिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाऽभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात् । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम् ; कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत् । न हि क्वचिद् ह्यनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधन-

१ – तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक. १ अध्याय. सू० ६ श्लो. ५३ । २ एव-शब्दः । ३ तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक १ अध्याय. सू. ६ श्लो ५६ ।

स्याऽभावप्रसङ्गात्। तस्माद् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाऽविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति। विवक्षावशाच्चाऽनयोः प्रधानोपसर्जनभावः। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्– "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात्। इति द्वितीयः। । तृतीयः स्पष्ट एव।

द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयाऽर्पिताभ्याम्, एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्याऽसंभवाद् अवक्तव्यं जीवादिवस्तु, तथाहि–सदसत्त्वगुणद्वय युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्, तस्याऽसत्त्वप्रतिपादनाऽसमर्थत्वात्, तथाऽसदित्यनेनाऽपि तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याऽभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद् वक्तुं समर्थम्, तस्याऽपि क्रमेणाऽर्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः, शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत्, अत एव द्वन्द्व कर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्, इति सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु



---

१ पुष्पदन्तशब्दो गन्धर्वविशेषस्यैव शिवमहिम्नस्तोत्रं प्रणेतुः, तत्र गन्धर्वविशेषे पुष्पदन्तशब्दः एकपदात्मको सङ्केतितत्वेनैव, न तु तत्र पुष्पाणीव दन्ता यस्येति विग्रहपुरःसरमथ द्वयेनार्थो बोध्यते, तद्वत्।

२ 'तौ सत्' इति पाणिनिसूत्र ३ । २ । १२७ । ३ इति-सप्तम

युगपत्सत्त्वा--सत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते । न च सर्वथाऽवक्तव्यम् अवक्तव्यशब्देनाऽप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात् । इति चतुर्थः । शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः ।

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमान-निषिध्यमानाऽनन्तधर्माभ्युपगमेनाऽनन्तभङ्गीप्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति ; विधि निषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात् । यथा हि सदसत्त्वाभ्याम् , एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात् । तथाहि–स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः , स्यादुभयम् , स्यादवक्तव्यम् , स्यात्सामान्याऽवक्तव्यम्, स्याद् विशेषावक्तव्यम् , स्यात्सामान्यविशेषाऽवक्तव्यमिति । न चात्र विधि-निषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यं ; सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् , विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात् । अथवा प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता । यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता । एवं सर्वत्र योज्यम् । अतः सुष्ठूक्तं अनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव भवेयुरिति–प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात् ; तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ; तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात् ; तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविध-

त्वस्यैवोपपत्तेरिति । इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च, तत्र-सकलादेशः प्रमाणवाक्यम्, तल्लक्षणं चेदम्– प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः' कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः, अस्यार्थः– कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात् कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाऽध्यारोपाद् वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः, तद्विपरीतस्तु विकलादेशो नयवाक्यमित्यर्थः । अयमाशयः– यौगपद्येनाऽशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद् वा तदभिधत्ते, तस्य नयात्मकत्वात् ।

कः पुनः क्रमः ?, किं च यौगपद्यम् ?– यदाऽस्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः, यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्याऽनेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम् ।

१ 'प्राधान्य' इति पदं नास्ति कुत्रचित् ।

॥२१५॥

के पुनः कालादयः ? – कालः, आत्मरूपम्, अर्थः, संबन्धः, उपकारः, गुणिदेशः, संसर्गः, शब्दः। तत्र– (१) स्याद् जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषाऽनन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाऽभेदवृत्तिः। (२) यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेव अन्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाऽभेदवृत्तिः। (३) य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवाऽन्यपर्यायाणामित्यर्थेनाऽभेदवृत्तिः। (४) य एव चाऽविष्वग्भावः कथंचित् तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाऽभेदवृत्तिः। (५) य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाऽभेदवृत्तिः। (६) य एव गुणिनः संबन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाऽभेदवृत्तिः। (७) य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाऽभेदवृत्तिः, अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानम्, भेदो गौणः; संसर्गे तु भेदः प्रधानम्, अभेदो गौण इति विशेषः। (८) य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषाऽनन्तधर्मात्मकस्याऽपीति शब्देनाऽभेदवृत्तिः पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद् उपपद्यते। द्रव्यार्थिकगुणभावेन पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः संभवति; समकाल

मेकत्र नानागुणानामसंभवात्, संभवे वा तदाश्रयस्य तावधा भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, आत्मरूपाऽभेदे तेषां भेदस्य विरोधात्। स्वाश्रयस्याऽर्थस्याऽपि नानात्वात्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात्। सम्बन्धस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनात् नानासम्बन्धिभिरेकत्रैकसम्बन्धाऽघटनात्। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्याऽनेकत्वात्, अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात्। गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाऽभेदप्रसङ्गात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः, शब्दान्तरवैफल्यापत्तेश्च। तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते। तदेताभ्यामभेदवृत्त्यऽभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नाऽनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्याऽपरपर्याय इति स्थितम्। तेन साप्त-

१ 'भतः' इत्यपि पाठः।

क्तम् आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम् । इति काव्यार्थः ॥

अनन्तरं भगवद्दर्शितस्याऽनेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम्, अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति साऽपि निरूपिता, तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति, तेषां प्रमाणमार्गात् च्यवनमाह —

**उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदऽवाच्यते च।**
**इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥२४॥**

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु, असत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्– अस्तित्वेन सह विरोधं नाऽनुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम् किं तु सदवाच्यते च– सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते– अस्तित्वाऽवक्तव्यत्वे इत्यर्थः, ते अपि न विरुद्धे ।

तथाहि– अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते, अवक्तव्यत्वमपि विधि- निषेधात्मकमन्योऽन्यं न विरुध्यते । अथवा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वा-ऽस्तित्वा-ऽवक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधता उपलक्षिता;

अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनाऽमीष्वेवाऽन्तर्भावादिति।

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति?, इति विरोधद्वारेण हेतुमाह– "उपाधिभेदोपहितम्" इति– उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः, तेषां भेदो नानात्वम् तेनोपहितमर्पितम्– असत्त्वस्य विशेषणमेतत् उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम्, सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम्– उपाधिभेदोपहिते सती (त्यौ) सदवाच्यते अपि न विरुद्धे।

अयमभिप्रायः– परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत् सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधः। न चाऽत्रैवम्, सत्त्वाऽसत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात्। नहि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात्, तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनाऽर्थसाध्याऽर्थक्रियाणां सिद्धेः। न चाऽसत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते, स्वरूपेणाऽप्यसत्त्वप्राप्तेः, तथा च निरुपाख्यत्वात् सर्वशून्यतेति। तदा हि विरोधः स्यात्, यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवम्, यतो न हि येनैवांऽशेन सत्त्वं तेनैवाऽसत्त्वमपि। किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्– स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चाऽसत्त्वम्।

दृष्टं चैकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वम्, अन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः–

॥२१९॥

नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः, चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात्, तत्रापि भिन्नदेशत्वाऽसिद्धेः । कथंचित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः ।

एवमप्यपरितोषश्चेद् आयुष्मनः, तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्व-पुत्रत्व-मातुलत्व-भागिनेयत्व-पितृव्यत्व-भ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्?। एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्या इति । उक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाऽभावमप्रबुध्यैवाऽज्ञात्वैव 'एवकारोऽवधारणे' स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याऽभाव एव, न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । ततस्ते विरोधभीताः– सत्त्वाऽसत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो वा विरोधः सहाऽनवस्थानादिः, तस्माद् भीतास्त्रस्तमानसाः अत एव जडाः; तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद् भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनः, तदेकान्तहताः– तेषां सत्त्वादिधर्माणां

---

१ मेचकरत्न रत्नजातिविशेषः, अत्र विचित्रवर्णाः स्युः । 'मेचकाक्ते' इत्यपि पाठः । मेचकपदेन मयूरपिच्छगतनानावर्णविशिष्टवर्तुलाकृतिविशेषो बोध्यः । २ शेमुषी-बुद्धिः ।

च प्रत्यक्षत इतरधर्मनिषेधेन स्वाऽभिमतधर्मव्यवस्थापननिबन्धनस्तेन हता इव हताः, पतन्ति स्खलन्ति– पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाऽऽक्रमणे न समर्थाः, न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः।

यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतः च्यवन्ते, लोके हि सन्मार्गच्युतः पतित इति परिभाष्यते। अथवा यथा वज्राविप्रहारेण हतः पतितो मूर्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एवं तेऽपि वादिनः स्वाऽभिमतैकान्तवादेन युक्तिमरीचिमननुसरता कशाशनिप्रायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम्, अनवस्था, संकरः, व्यतिकरः, संशयः, अप्रतिपत्तिः, विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः। तथाहि– सामान्यविशेषात्मकं वस्तु इत्युपन्यस्ते परे उपालम्भारो भवन्ति, यथा सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषे-



१ ०ऽऽक्रमणेनासमर्था । इति प्रत्यन्तरे ।
२ मूले हताः ।
३ उपालम्भारः– निग्रहका उपालम्भादिनः ।

धरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राऽभिन्ने वस्तुनि ह्यसंभवात् शीतोष्णावदिति विरोधः। न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याऽधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः, ततो वैयधिकरण्यमपि भवति। अपरं च येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य, तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति, द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम्? । एकेनैव चेत्, तत्र पूर्ववद् विरोधः। द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्य-विशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति, तदाऽनवस्था– तावपि स्वभावान्तराभ्याम्, तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति। येनात्मना सामान्यस्याऽधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च; येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः। येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः। ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाऽऽकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः। ततश्चाऽप्रतिपत्तिः। ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति। एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाद् निरवकाशा एव, अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति। स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्य–विशेषयोर्विधि–प्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात्।

अथवा विरोधशब्दोऽत्र दोषवाची, यथा विरुद्धमाचरतीति दुष्टमित्यर्थः। ततश्च विरोधेभ्यो

विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम्। एवं च सामान्यशब्देन सर्वेऽपि दोषा व्यक्त्या संगृहीता भवन्ति। इति काव्यार्थः॥

अथाऽनेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यसर्वपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वाऽमृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह —

**स्याद् नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।**
**विपश्चितां नाथ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम्॥२५॥**

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमत्रास्वपि पदेषु योज्यम्, तदेव अधिकृतमेवैकं वस्तु, स्यात् कथञ्चिद् नाशि–विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः, स्यान्नित्यम्–अविनाशधर्मीत्यर्थः, एतावता नित्याऽनित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्, स्याद् विरूपं विविधरूपम्– विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः, अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः।

तथा स्याद् वाच्यं वक्तव्यम्, स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः, अत्र च समासेऽवाच्यमिति

॥२२३॥

युक्तम्, तथाऽप्यऽवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः, एतेनाऽभिलाप्याऽनभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः, स्याद् असत् तद्विलक्षणमिति, अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा।

हे विपश्चितां नाथ! संख्यावतां मुख्य!, इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा तवेति प्रकरणात् सामर्थ्याच्च गम्यते– तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्, विबुधोपभोग्यत्वाद्, मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वाद्, आन्तराह्लादकारित्वाच्च सुधा–पीयूषं तत्त्वसुधा, नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः। यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुताऽनेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः।

अथवा यैरेकान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गार-

प्रकाराः प्राक्प्रदर्शिताः । यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतम्, तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ ! इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेख-शेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम् ।

एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः । तथाहि— 'आदीपमाव्योम सम-स्वभावम्' इति वृत्ते नित्याऽनित्यवादः प्रदर्शितः । 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' इति काव्ये सामान्यविशेषवादः संसूचितः, सप्तभङ्ग्यामभिलाप्याऽनभिलाप्यवादः, सदसद्वादश्च चर्चितः । इति न भूयः प्रयासः । इति काव्यार्थः ॥

इदानीं नित्या-ऽनित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनपटुलक्षतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरप्रसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य भगवच्छासनसाम्राज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह—

---

१ पचेलिम-परिपाकप्राप्तम् । २ मनोहत्य-श्रद्धातिरेकेण । उत्कण्ठयात्यधिकम् ।
३ अत्रैव ग्रन्थे पञ्चमे श्लोके । ४ चतुर्दशे श्लोके । ५ हेतिः शस्त्रम् ।

**य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।**
**परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥**

किलेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे, दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽनुपपत्त्यादयः, त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि, समास्तुल्याः, नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः । तथाहि नित्यवादी प्रमाणयति-सर्वं नित्यं सत्त्वात्, क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते । तथाहि- क्षणिकोऽर्थः सन् वा कार्यं कुर्याद्, असन् वा? । गत्यन्तराऽभावात् । न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापाराऽयोगात्, सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते, असतः कार्यकारणशक्तिविकलत्वात्, अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाऽभावात् इति ।

---

१ अष्टादशे श्लोके । २ 'समकालं भावानाम्' इत्यपि पाठः ।

अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति- सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्, अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाऽविरामप्रसङ्गात्, तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थ्यस्याऽनित्यतालक्षणत्वात्। अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत्। न, सहकारिकारणस्य नित्येऽर्थेऽकिञ्चित्करत्वात्, अकिञ्चित्करस्याऽपि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते, अध्यक्षविरोधात्- न ह्येककाले सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते, करोतु वा तथाऽप्याऽऽद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेषु अकुर्वाणस्याऽनित्यता बलाद् ढौकते, करणाऽकरणयोरेकस्मिन् विरोधात् इति। तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यमुत्पादयन्तीति

१ 'क्रमेण' इति नास्ति पुस्तके। २ ढौकते प्राप्नोति। ३ ध्यान्ध्यं- धियः बुद्धेरान्ध्यं-मान्द्यम्।

विरुद्धा व्यभिचारिणोऽनैकान्तिका इति। अत्र च नित्याऽनित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः। उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम्।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते–परस्परेत्यादि– एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु, परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः सुन्दोपसुन्दवदिति परस्परध्वंसिनस्तेषु, हे जिन! ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाऽभावाद् अधृष्यमपराभवनीयम्, "शकार्हे कृत्याश्च" ॥ ५। ४। ३५॥ इति कृत्यविधानाद् धर्षितुमशक्यम्, धर्षितुमनर्हं वा– जयति सर्वोत्कर्षेण

१ '०तु' इत्यपि। २ सुन्दोपसुन्दनामानौ राक्षसौ द्वौ भ्रातरौ ब्रह्मणः सकाशात् वरं लब्धवन्तौ यद् आवयोर्मृत्युः परस्परादस्तु नान्यस्मात्। तथेत्युक्ते ब्रह्मणा मत्तौ तौ त्रिलोकीं पीडयामासतुः। अथ देवप्रेषितां तिलोत्तमामुपलभ्य तदर्थं मिथो युध्यमानावम्रियेताम्। एवमेकान्तवादिनः स्वतत्त्वसिद्ध्यर्थं परस्परं विवदमाना विनश्यन्ति ततश्चानेकान्तवादो जयति। ३ हैमसूत्रम्। ४ कृत्यः – कृत्यप्रत्ययः।

वर्तते। यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अप्रयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवति एव स्वच्छासनमपि इति। काव्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्याऽनित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम्, इदानीं कतिपयतद्विशेषान् नामग्राहं दर्शयंस्तत्स्वरूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोन्मत्ततया विधूरिपुजनजमितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

नैकान्तवादे सुख-दुःखभोगौ न पुण्य-पापे न च बन्ध-मोक्षौ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे, न सुख-दुःखभोगौ घटेते, न च पुण्य-पापे घटेते, न च बन्ध-मोक्षौ घटेते। पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताऽघटमानतादर्शनार्थः। तथाहि- एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुख-दुःखभोगौ नोपपद्येते- नित्यस्य हि लक्षणम् अप्र



१ नामग्रहणपूर्वकम्। २ 'उद्भूत' इति नास्ति क्वचित्।

च्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्, ततो यदा आत्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदाद् अनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः। एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्याऽपि वक्तव्यम्।

अथ अवस्थाभेदाद् अयं व्यवहारः, न चाऽवस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः; सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु[1] इति चेत्। न, तास्ततो व्यतिरिक्ताः, अव्यतिरिक्ता वा?। व्यतिरेके, तास्तस्येति संबन्धाऽभावः, अतिप्रसङ्गात्। अव्यतिरेके तु, तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः। कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति?।

किंच सुख-दुःखभोगौ पुण्य-पापनिर्वर्त्त्यौ तन्निर्वर्त्तनं, चार्थक्रिया, सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेण अक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम्। अत एवोक्तं "न पुण्य-पापे" इति, पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म, पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म, ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीतेः। तथा न बन्ध-मोक्षौ, बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्नयःपिण्डवद्[2] अन्योऽन्यसंश्लेषः, मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः, तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम्। बन्धो हि संयोगविशेषः, स च

---

१ आर्जवं— सारल्यम्। २ अग्नेरयोगोलकस्य च संयोगः।

"अप्राप्तानां प्राप्तिः" इतिलक्षणः, प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था, उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चान्या। तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः। कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः?। बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत्?। किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा?। अनुभवति चेत्, चर्मादिवद् अनित्यः। नानुभवति चेत्, निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात्। ततश्च विशीर्णा जगति बन्ध-मोक्षव्यवस्था। तथा च पठन्ति —

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्?। चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेद्-सत्फलः"॥ १॥ बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वाद् मुक्तिशब्दस्येति।

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुख-दुःखाद्यनुपपत्तिः-अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम्, तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः?, एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु?। एवं चान्यः क्रियाकारी

१ चात्मन इति।

अन्यश्च तत्फलभोक्ता इति असमञ्जसमापद्यते । अथ—

" यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा " ॥ १ ॥ इति वचनाद्

नाऽसमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम् , सन्तान-वासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात् । तथा पुण्य-पापे अपि न घटेते- तयोर्हि अर्थक्रिया सुख-दुःखोपभोगः , तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता । ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात् तयोरप्यऽघटमानत्वम् ।

किंचाऽनित्यः क्षणमात्रस्थायी , तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्य-पापोपादानक्रियाऽर्जनम् ? , द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते , पुण्य-पापोपादानक्रियाऽभावे च पुण्यपापे कुतः ? ; निर्मूलत्वात् , तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुख-दुःखभोगः ? । आस्तां वा कथंचिदेतत् , तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम् ; उपादानाऽनुरूपत्वाद् उपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितात् उत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्येत ? , कथं च सुखितात् ततः स दुःखितः स्यात् ? , विसदृशभागतापत्तेः । एवं पुण्य-पापादावपि , तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ।

एवं बन्ध-मोक्षयोरप्यसंभवः-लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते , निरन्वयनाशाऽभ्यु-

पगमे चैकाधिकरण्यस्याऽभावात् सन्तानस्य चाऽवास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति ।
परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निरवद्यमुपपद्यते—

" परिणामो ह्यवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः " ॥ १ ॥ इति वचनात् ।

पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह—

" अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः " इति । एवं सामान्य-विशेष-सदसदभिलाप्याऽनभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुख-दुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ।

अथोत्तरार्धं व्याख्या— एवमनुपपद्यमानेऽपि सुख-दुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैरप च परमार्थतः शत्रुभिः, परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति, दुर्नीतिवादव्यसनासिना— नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः, तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः, तत्र यद् व्यसनम्— अत्यासक्तिः— औचित्यनिरपेक्षा प्रवृ-

१ पातञ्जलयोगसूत्रम् ३ । १३ । अत्र ग्रन्थकृता ' टीकाकारोऽप्याह ' इति यदुक्तं तच्चिन्त्यम् , यत इदं पातञ्जलसूत्रम् ।

त्तिरिति यावत्, दुर्नीतिवादव्यसनम्, तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वाद् असिरिव असिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिः, तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणा-हेवाकखड्गेन, एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह– अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् अशेषमपि जगद् निखिलमपि त्रैलोक्यम्– "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः[1]" इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातम्, विलुप्तं सम्यग्-ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम्, तत् त्रायस्व इत्याशयः। सम्यग्ज्ञानादयो[2] हि भाव-प्राणाः प्रावचनिकैर्[3]गीयन्ते, अतएव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः। अन्यथा हि 'जीव[4] धातुः' प्राणधारणार्थेऽभिधीयते, तेषां च दशविधप्राणधारणाऽभावाद् अजीवत्वप्राप्तिः, सा च विरुद्धा, तस्मात् संसारिणो दशविधद्रव्य[5]प्राणधारणाद् जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणाद् इति

१ 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इतियावत्। यथाऽत्र मञ्चपदेन मञ्चस्था गृह्यन्ते लक्षणया तद्वदत्र त्रैलोक्यपदेन त्रैलोक्यस्थं जन्तुजातं गृह्यते, व्यपदेशः -- सञ्ज्ञा। २ सम्यक्ज्ञानसम्यग्दर्शनसम्यक्चारित्रेत्यादयो ये जीवस्य गुणास्ते भावप्राणाः। इदं प्रज्ञापनासूत्रे प्रथमपदे। ३ प्रवचनकारिभिः पूर्वाचार्यैः। ४ हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ४६५। ५ पञ्चेन्द्रियाणि, ६ श्वासोच्छ्वास-- ७ आयुष्य -- ८ मनोबल - ९ वचनबल, १० शारीरबलानीति दश द्रव्यप्राणाः। शान्तिसूरिकृतजीवविचारः गाथा ४२।

सिद्धम्। दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः। इति काव्यार्थः॥ २७॥

साम्प्रतं दुर्नय-नय-प्रमाणप्ररूपणद्वारेण "प्रमाणनयैरधिगमः" इति वचनात् जीवाऽजीवादितत्त्वाऽधिगमनिबन्धनानां तेषां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुमनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह—

सदेव, सत्, स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नय-प्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः॥ २८॥

अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः, त्रिधा त्रिभिः प्रकारैः, मीयेत परिच्छिद्येत, विधौ सप्तमी। कैस्त्रिभिः प्रकारैः?, इत्याह- दुर्नीति-नय-प्रमाणैः - नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः, नया नैगमादयः, प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेनेति प्रमाणम्- स्याद्वादात्मकं प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम्, दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीति-नय-प्रमाणानि तैः। केनोल्लेखेन मीयेत?, इत्याह-

१ तत्त्वार्थसूत्र प्रथमाध्याय सू० ६। २ इयं च हैमव्याकरणप्रसिद्धा सिद्धहेमकारस्य संज्ञा।

स्यात्सदिति- 'स्यात्कथञ्चित्, सद् वस्तु', इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टाऽबाधितत्वात् विपक्षे बाधकत्वाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत्, पररूपेण चाऽसत् इति असकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थम्, अनया दिशा असत्त्व-नित्यत्वा-ऽनित्यत्व-वक्तव्यत्वा ऽवक्तव्यत्व-सामान्य-विशेषादि अपि बोद्धव्यम्।

इत्थं वस्तुतत्त्वमभिधाय स्तुतिमाह- 'यथार्थदर्शी' इत्यादि। दुर्नीतिपथं दुर्नयमार्गम्, तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् त्वमेव 'आस्थः' त्वमेव निराकृतवान्, न तीर्थान्तरदैवतानि। केन कृत्वा?, नय-प्रमाणपथेन, नय-प्रमाणे उक्तस्वरूपे, तयोर्मार्गेण प्रचारेण। यतस्त्वं यथार्थदर्शी- यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्येवंशीलो यथार्थदर्शी विमलकेवलज्योतिषा यथावस्थितवस्तुदर्शी, तीर्थान्तरशास्तारस्तु रागादिदोषकालुष्यकलङ्कितत्वेन तथाविधज्ञानाभावात् न यथार्थदर्शिनः, ततः कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः?। न हि स्वयमनयपङ्कमग्नः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धुरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति- यथा कश्चित् सन्मार्गवेदी परोपकारदुर्ललितः पुरुषोऽपि गुरुतर-श्वापद-कण्टकाकीर्णं मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकले शोपाऽस्पृष्टे

१ यथार्थम् इत्यपि। २ तत्रस्थित - पाठः। ३ उद्युक्तता- प्रगल्भत्वम्।

गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति, एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नयप्रमाणमार्गं प्ररू-पयतीति। 'आस्थः' इति अस्यतेरद्यतन्यां "शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्" ॥ ३। ४। ६० इत्यङि "श्वयत्यसूवचपतःश्वास्थवोचपप्तम्" ॥ ४। ३। १०३॥ इति अस्थादेशे "स्वरादेस्तासु" ॥ ४। ४। ३१॥ इति वृद्धौ रूपम्।

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। यच्च अत्र नयानां प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। चत्वारि हि प्रवचनाऽनुयोगमहानगरस्य द्वाराणि-- उपक्रमः, निक्षेपः, अनुगमः, नयश्चेति, एतेषां च स्वरूपमावश्यकभाष्यादेर्निरूप-

१ भवति परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्यः सिद्धिगमनयोग्यः। २ 'असूच् क्षेपणे, इति हैमधातुपारायणे दैवादिको धातुः ७८। ३ इयं च श्रीहैमव्याकरणप्रसिद्धा लुङ्लकारस्य संज्ञा। ४ हैमसूत्रम्। ५ हैमसूत्रम।

६ हैमसूत्रम् ४ ॥ ७ विशेषावश्यकभाष्य गाथा ९११। ९१२। ९१३ / ९१४। तथा गाथा १५०५ तः परम् /(चतुर्षु मूलसूत्रेष्विदं प्रथममावश्यकसूत्रं तन्मूलसंख्या १२५ तत्राध्ययनषट्कं तत्र प्रथमाध्ययनं सामायिकाख्यं तद्भाष्यं विशेषावश्यकभाष्यं श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतं श्लोकसंख्या ५००० तत्र मलधारिश्री हेमचन्द्रसुरिकृता बृहद्वृत्तिः। ग्रन्थसंख्या १८००० तत्र वृत्तौ जैनस्थापनाचार्यकृता टीका। तथा भाष्योपरि द्रोणाचार्यकृता लघुवृत्तिः। ग्रन्थसंख्या १४०००) ८ 'अवसेयम्' इत्यपि।

ये केचनाऽर्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्रऽभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति । ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति ।

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादीनि ; तथाऽन्त्यान् विशेषान् सकलाऽसाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेषांश्चाऽपेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्याद् अत्यन्तविनिर्लुंठितस्वरूपानभिप्रैति । इदं च स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः । प्रवचनप्रसिद्धनिलयन-प्रस्थदृष्टान्तद्वयगम्यश्चायम् ।

संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते । एतच्च सामान्यैकान्तवादे प्राक् प्रपञ्चितम् ।

व्यवहारस्त्वेवमाह– यथा लोकग्राह्यमेव वस्तु अस्तु, किमनया अदृष्टाऽव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया ?, यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवाऽनुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते ; नेतरस्य । न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाऽभिमतं प्रमाणभूमिः, तथाऽनुभवाऽभावात्,



१ चतुर्थः श्लोकः । २ 'जल्पितम्' इत्यपि । ३ अनुयोगद्वारसूत्र १४५ व्याख्या श्रीमलयगिरिकृता पृ. २२३। २२५ । ४ चतुर्थपञ्चमश्लोकयोः । ५ लोके यथा प्रसिद्धं तथा।

सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात्। नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्षयिणः प्रमाणगोचराः, तथा प्रवृत्तेरभावात्। तस्माद् इदमेव निखिललोकाऽबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याऽऽहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम्। पूर्वोत्तरकालभाविनस्तत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी[1], तत्र प्रमाणप्रसराऽभावात्, प्रमाणमन्तरेण च विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात्। अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन?, तथाहि– पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्ताः, क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति। तन्न ते वस्तुरूपाः, लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात्, अत एव 'पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम्। तथा च वाचकमुख्यः[2]–"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः[3]" इति।

---

१ अज्यायसी–अश्रेयसी।

२ उमास्वातिः।

३ तत्त्वार्थाधिगमे प्रथमाध्याये पञ्चत्रिंशस्य "आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ" इति सूत्रस्य भाष्ये।

ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते– वर्तमानक्षणविवर्त्त्येव वस्तुरूपम्, नाऽतीतमनागतं च। अतीतस्य विनष्टत्वाद्, अनागतस्याऽलब्धात्मलाभत्वात् खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया सकलशक्तिविरहरूपत्वाद् नाऽर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम्, तदभावाच्च न वस्तुत्वं "यदेवाऽर्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसद्" इति वचनात्। वर्तमानक्षणालिङ्गितं पुनर्वस्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम्। तदपि च निरंशमभ्युपगन्तव्यम्; अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात्; एकस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्वावयवव्यापनाऽयोगात्। अनेकस्वभावता एवाऽस्तु इति चेत्। न, विरोधव्याघ्राघ्रातत्वात्। तथाहि– यदि एकः स्वभावः कथमनेकः?, अनेकश्चेत्कथमेकः?, एकाऽनेकयोः परस्परपरिहारेणाऽवस्थानात्। तस्मात् स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षणं, न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति। एवमस्याऽभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु, न परकीयम्; अनुपयोगित्वादिति।

शब्दस्तु–रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते; यथा इन्द्र–शक्र–पुरन्दरादयः



---

१ वस्तु इतिशेषः।

सुरपतौ, तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल प्रतीतिवशात्। यथा शब्दाव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते, तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम्। न च इन्द्र-शक्र-पुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते, तेभ्यः सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात्। तस्मात् एक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति। शब्द्यते आहूयतेऽनेनाऽभिप्रायेणाऽर्थ, इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात्। यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा 'तटस्तटी तटम्' इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसंबन्धात् वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः। एवं संख्या-काल-कारक-पुरुषादिभेदात् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्र संख्या एकत्वादिः, कालोऽतीतादिः, कारकं कर्त्रादि, पुरुषः प्रथमपुरुषादिः।

समभिरूढस्तु– पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते। तद्यथा– इन्दनात् इन्द्रः, परमैश्वर्यम्–इन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्यर्थे, अतद्वत्यर्थे पुनरुपचारतो वर्तते, न वा कश्चित्

१ " सुरपतो " इतिपदं क्वचित्।

तद्वान्। सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः। एवं शकनात् शक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति, प्रमाणयति च-पर्यायशब्दा अपि भिन्नार्थाः, प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्, इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थकाः, यथा इन्द्र-पशु-पुरुषशब्दाः, विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि, अतो भिन्नार्था इति।

एवंभूतः पुनरेवं भाषते- यस्मिन् अर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन। यथा उदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकाऽऽरूढो विशिष्टचेष्टावान् एव घटोऽभिधीयते, न शेषः; घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात्, पटादिवद् इति। अतीतां भाविनीं वा चेष्टामङ्गीकृत्य सामान्येनैवोच्यत इति चेत्। न, तयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नतया शशविषाणकल्पत्वात्, तथापि तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यः, विशेषाऽभावात्। किंच यदि अतीत-वर्त्स्यच्चेष्टाऽपेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत

---

१ कश्चिद् अपगतैश्वर्यवानपि उपचारेण नहि परमैश्वर्यवान् भवितुमर्हति, इति तत्त्वम्।

२ वर्त्स्यन् भविष्यत्कालः।

तदा कालाल्मृतिपच्चादावपि तत्प्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्, विशेषाऽभावात्। तस्माद् यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन् एव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति।

अत्र संग्रहश्लोकाः[1]—

अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः ॥१॥
सद्रूपताऽनतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्। सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥२॥
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ॥३॥
तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता। नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥४॥
विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम्। तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥५॥
तथाविधस्य तस्याऽपि वस्तुनः क्षणवर्तिनः। ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥६॥
एकस्याऽपि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते। क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते ॥७॥

एते एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते। तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः, तथाहि— नैगमनयदर्शनानु

१ 'भेदमस्यपि प्रयुज्यते' इत्यपि पाठ.।

सारिणौ नैयायिक-वैशेषिकौ । संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः, सांख्यदर्शनं च। व्यवहारनयानुपाति प्रायश्चार्वाकदर्शनम् । ऋजुसूत्राऽऽकूतप्रवृत्तबुद्धयस्ताथागताः । शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः ।

उक्तं च सोदाहरणं नय-दुर्नयस्वरूपं श्रीदेवसूरिपादैः । तथा च तद्ग्रन्थः- " नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥ इति । स्वाऽभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्नयाभासः ॥ २ ॥ स व्यास-समासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ ३ ॥ व्यासतोऽनेकविकल्पः॥ ४ ॥ समासतस्तु द्विभेदः-द्रव्याऽर्थिकः पर्यायाऽर्थिकश्च ॥ ५ ॥ आद्यो नैगम-संग्रह-व्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥ धर्मयोः, धर्मिणोः, धर्म-

१ अतः परं ' सप्तभङ्गीमनुव्रजति ' इत्यन्तं त्रयःपञ्चाशत्सूत्राणि प्रमाणनयतत्त्वाऽऽलोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे । एभिरेव त्रयःपञ्चाशद्भिः सूत्रैः सूत्रकारः श्रीवादिदेवसूरिरत्र नयलक्षणमनुपमाविधानं व्यवस्थापितवान् । सूत्रोपरि ग्रन्थकारेण स्वयमेव स्याद्वादरत्नाकराख्या ८४००० श्लोकपरिमिता बृहट्टीका कृता । सा सप्तमाध्यायपर्यन्ताऽधुना उपलभ्याऽस्ति किन्तु विस्तृतत्वात् किञ्चित्त्रुटितत्वाच्चात्र न निर्देशीकृता । श्रीरत्नप्रभाचार्यकृता रत्नाकरावतारिकाख्या द्वितीया संक्षिप्ता टीका विषयविशदार्थं मुद्रिता, विषयविशेषजिज्ञासुना साऽवलोकनीया ।

धर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद् विवक्षणं स नैकगमो नैगम'॥ ७ ॥ सत् चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥ वस्तुपर्यायवद् द्रव्यमिति धर्मिणो' ॥ ९ ॥ क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्म-धर्मिणोः ॥ १० ॥ धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभास' ॥ ११ ॥ यथा आत्मनि सत्त्व-चैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥ सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रह' ॥ १३ ॥ अयमुभयविकल्प – परोऽपरश्च ॥ १४ ॥ अशेषविशेषेषु औदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥ विश्वमेकं सद् , अविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥ सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥ यथा सत्तैव तत्त्वम् , ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥ १८ ॥ द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमान' पुनरपरसंग्रह' ॥ १९ ॥ धर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-काल-पुद्गल-जीव-द्रव्याणामैक्यम् , द्रव्यत्वाभेदाद् इत्यादिर्यथा ॥ २० ॥ तद् द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानान-स्तद्विशेषान् निह्नुवानस्तदाभासः ॥ २१ ॥ यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् , ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुपलब्धेरित्यादि ॥ २२ ॥ संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाऽभिसन्धिना

१ (२११) पृष्ठे द्रष्टव्या ।

क्रियते स व्यवहारः ॥२३॥ यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः॥ २४ ॥ यः पुनरपारमार्थिकद्रव्य-पर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥ यथा चार्वाकदर्शनम् ॥ २६॥ पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा-ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवंभूतश्च ॥ २७॥ ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥ यथा सुखविवर्तः सम्प्रति अस्तीत्यादिः ॥ २९ ॥ सर्वथा द्रव्याऽपलापी तदाभासः ॥ ३० ॥ यथा तथागतमतम् ॥ ३१ ॥ कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥ ३२ ॥ यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥ ३३ ॥ तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४॥ यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धाऽन्यशब्दवद्, इत्यादिः ॥ ३५ ॥ पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥ इन्दनाद् इन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥ पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कुक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥ यथेन्द्रः, शक्रः, पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाऽभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करि-कुरङ्ग-तुरङ्गशब्दवद्, इत्यादिः ॥ ३९ ॥ शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाऽभ्युपगच्छन् एवंभूतः ॥४०॥

यथेन्दनमनुभवन् इन्द्रः, शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥ क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः ॥ ४२ ॥ यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवत्, इत्यादिः ॥ ४३ ॥ एतेषु चत्वारः[1] प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वाद् अर्थनयाः ॥ ४४ ॥ शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥ ४५ ॥ पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमितविषयः ॥ ४६ ॥ सन्मात्रगोचरात् संग्रहाद् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥ सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् बहुविषयः ॥ ४८ ॥ वर्तमानविषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वाद् अनल्पार्थः ॥ ४० ॥ कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दाद् ऋजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः ॥ ५० ॥ प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढात् शब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥ प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानाद् एवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः ॥ ५२ ॥ नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधि-प्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥" इति। विप्रोपाधिना

१ प्रथमाबहुवचनम्।

नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्यमहोदधि–गन्धहस्तिटीका–न्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः। प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्, स्याच्छन्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात् तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः—

" नयास्तव स्यातपदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः " ॥ १ ॥ इति।



---

१ तत्त्वार्थाधिगमभाष्यम्। तदेव गन्धहस्तिटीका। ग्रन्थसंख्या ८४०००। इयं श्रीसमन्तभद्राचार्यकृता। एतन्मङ्गलं सपादशतश्लोकात्मकं तदेव केवलमधुनोपलभ्यते न संपूर्णो ग्रन्थः। अयमेव मङ्गलग्रन्थ आप्तमीमांसा देवागमस्तोत्रं वेत्यभिधीयते। अत्र श्रीमदकलङ्कदेवविरचिता अष्टशती श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिविरचिता–अष्टसहस्री चास्ति। न्यायावतारः--श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृतः। अनेन द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकारूपः स्तुतिसंग्रहः कृतः। तत्र प्रत्येकं द्वात्रिंशत् श्लोकाः। तत्रैव न्यायावतारनाम्न्येका द्वात्रिंशिका। अत्र श्रीसिद्धर्षिगणिकृतव्याख्या श्रीराजशेखरसूरिविरचिता टिप्पनी चास्ति। न्या. श्लो. ३०। ३१। ३२।

२ बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावल्या श्लो. ६५। ३ ' नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छनाः ' इति बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावल्याम्।
४ ० 'गुणा' इति बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावल्याम्।

पाता० २५१॥

तच्चे द्विविधम्– प्रत्यक्षं परोक्षं च। तत्र प्रत्यक्षं द्विधा– सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च। सांव्यवहारिकं द्विविधम्–इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तभेदात्। "तद् द्वितयम्–अवग्रहे–हा–ऽवाय–धारणाभेदाद् एकशश्चतुर्विकल्पम् ॥७॥" अवग्रहादीनां स्वरूपं सुप्रतीतत्वाद् न प्रतन्यते। "पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ॥१८॥" तद् द्विविधम्–क्षायोपशमिकं क्षायिकं च। आद्यम्–अवधि–मनःपर्यायभेदाद् द्विधा। क्षायिकं तु केवलज्ञानमिति।
परोक्षं च स्मृति–प्रत्यभिज्ञानो–हा–ऽनुमाना–ऽऽगमभेदात् पञ्चप्रकारम्। "तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः ॥३॥ तत् तीर्थकरबिम्बमिति यथा ॥४॥ अनु-

॥२५१॥

१ – प्र न लो परि. २ सू १, २, ३, ४, ५।
२ एतद् सूत्रयुगलं प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे द्वितीयपरिच्छेदे सू ४। ५।
३ प्र. न लो परि २ सू ।६। ४ प्र न लो परि २ सू १८।
५ अपेक्षोत्पत्त्यमासत्कर्मणो विपाकेन सदोपशमे निष्कम्पितोत्पत्तेर्वा क्षयोपशम।
६ प्रत्यक्षं मेदामि च प्र न. लो परि ३ सू १।२।
७ प्र न लो परि ३ सू ३। ४

भवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ॥ ५ ॥ यथा तज्जातीय एवाऽयं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि ॥ ६ ॥ उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनम्-- इदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहोऽपरनामा तर्कः ॥ ७ ॥ यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति, तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा ॥ ८ ॥ अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥ ९ ॥ तत्राऽन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ॥ १० ॥ पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥ २३ ॥ आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ १ ॥ उपचाराद् आप्तवचनं च ॥ २ ॥ इति । स्मृत्यादीनां च विशेषस्वरूपं स्याद्वादरत्नाकरात् साक्षेपपरिहारं ज्ञेयमिति ।

---

१— ०मूहस्तर्कापरपर्यायः ।

२ 'तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्' इति प्र. न. लो. परि. ३ सू. १० ।

३ प्र. न. लो. परि. ३ सू. २३ । ४ प्र. न. लो. परि. ४ सू. १ । २ ।

प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्यु-पमान-संभव-प्रातिभै-तिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः। सन्निकर्षादीनां तु जडत्वाद् एव न प्रामाण्यमिति । तदेवंविधेन नय-प्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्वया खिलीकृतः । इति काव्यार्थः ॥

इदानीं सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो लोक इति वावदूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां संभवात् परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीतं जीवाऽऽनन्त्यवादं निर्दोषतयाऽभिष्टुवन्नाह—

मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवम् भवो वा, भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे ।
षड्जीवकाय त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ [1] यथा न दोषः ।२९।

मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे, दूषणद्वयमुपतिष्ठते, तत्क्रमेण दर्शयति– मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवमिति–मुक्तो निर्वृतिमाप्तः, सोऽपि वा– अपिर्विस्मये, वाशब्द उत्तर-दोषापेक्षया समुच्चयार्थः– यथा देवो वा दानवो वेति, भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु, इत्येको

१ स्वः । २ वावदूकः– अतिवक्ता ।

दोषप्रसङ्गः। भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु– भवः संसारः, स वा भवस्थशून्यः संसारिजीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु। इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः।

इदमत्र आकूतम्– यदि परिमिता एव आत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाऽभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणाऽपवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः, कालस्याऽनादिनिधनत्वाद् आत्मनां च परिमितत्वात् संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम्?, समुन्नीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि पवनतपनाऽऽतपनजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता। न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचिद् प्रसिद्धः, संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। तत्स्वरूपं हि एतद्– यत्र कर्मवशवर्त्तिनः प्राणिनः संसरन्ति, समसार्षुः, संसरिष्यन्ति चेति। सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम्, मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम्। न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः—

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाऽङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाऽङ्कुरः" इति वचनात्।

आह च पतञ्जलिः– "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" इति। एतट्टीका च "सत्सु

१ जनोदञ्चनं– लोकैर्जलाहरणम्। २ योगदर्शने साधनपादे त्रयोदशं सूत्रम्। ३ व्यासभाष्यम् २। १३।

क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति, नोच्छिन्नक्लेशमूलः। यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति, नाऽपनीततुषा दग्धबीजभावा वा। तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नाऽपनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः" इति। अक्षपादोऽप्याह– "[1]न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य" इति। एवं विमप्रज्ञानिधिराजर्षिमतानुसारिणो रूपयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति– षड्जीवेत्यादि। त्वं तु हे नाथ !, तथा तेन प्रकारेण, अनन्तानन्तसंख्यासंख्येयसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम्– अजीवन्, जीवन्ति, जीविष्यन्ति चेति जीवा इन्द्रियादिदशप्राणविष्वक्भावप्राणधारणयुक्ताः, तेषां "[2]सङ्घेऽनूर्ध्वे" ॥ ५।३।८०॥ इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायं समूहं जीवकायं पृथिव्यादिः, षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम्, पात्रादिदर्शनात् नपुंसकत्वम्। अथवा षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं सङ्घातः षड्जीवकायस्तं षड्जीवकायम्– पृथिव्य्–अप्–तेजो–वायु–वनस्पति–त्रसलक्षणषड्जीवनिकायम्, तथा तेन प्रकारेण, आख्यः मर्यादया प्ररूपितवान्, यथा येन प्रकारेण, न दोषो दूषणमिति



१ गौतमसूत्र ४।१।६४। २ हैमसूत्रम्।

जात्यपेक्षमेकवचनम्–प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुःष्यन्ति तथा त्वं जीवाऽऽनन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः । 'आख्यः' इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः । त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति– यद् जगद्गुरोरेव एकस्य ईदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं, न तीर्थान्तरशास्तॄणामिति ।

पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्– यथा सात्मिका विद्रुमशिलादिरूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानाद्, अर्शोऽङ्कुरवत् । भौममम्भोऽपि सात्मकम्, क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात्, शालूरवत् । आन्तरिक्षमपि सात्मकम्; अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात्, मत्स्यादिवत् । तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत् । वायुरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गमित्वाद्, गोवत् । वनस्पतिरपि सात्मकः, छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात्, पुरुषाङ्गवत्, केषाञ्चित् स्वाप–ऽङ्गनोपश्लोपादिविकाराच्च । अपकर्षवतश्चैतन्याद् वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः, आप्तवचनाच्च । त्रसेषु च कृमि–पिपीलिका–भ्रमर–मनुष्यादिषु न केषाञ्चित् सात्मकत्वे विगानमिति । यथा च भगवदुपक्रमे जीवाऽऽनन्त्ये न दोषस्तथा

---

'१ शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ्' इति हैमसूत्रे ३ । ४ । ६० ॥ २ अर्शः– दुर्नामपर्यायो रोगविशेषः, तदङ्कुरे छिन्नेऽपि पुनः स प्ररोहति । अत्र 'दर्भाङ्कुरवत्' इत्यपि पाठः । ३ भौमं– भूमिगतम् । ४ मण्डूकवत् । ५ वनस्पतीनामेव ।

दिग्मात्रं भाव्यते— भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतद् अल्प-बहुत्वम्— सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, तेभ्योऽसंख्यातगुणाः तेजस्कायिकाः, तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथ्वीकायिकाः, तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः, तेभ्योऽपि विशेषाधिका वायुकायिकाः, तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः, ते च व्यावहारिका अव्यावहारिकाश्च—

" गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ। इक्किक्कम्मि णिगोए अणंतजीवा मुणेयव्वा ॥ १ ॥ सिज्झंति जत्तिया किर इह संववहारजीवरासीओ। इंति अणाइवणस्सइरासीओ तत्तिआ तम्मि ॥ २ ॥ "

इति वचनाद् यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्राऽऽगच्छन्ति।

न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोदजीवानामनन्तत्वात्। निगोदस्वरूपं च



---

१ गोलाश्च असंख्येया असंख्यनिगोदो गोलको भणितः। एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्याः ॥ १ ॥ सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशेः। आयान्ति अनादिवनस्पतिराशेस्तावन्तस्तस्मिन् ॥ २ ॥

समयः संकेतः, यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन अयन्ते ज्ञायन्ते जीवा-ऽजीवाद्योऽर्था अनेन, इति समयः सिद्धान्तः, अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः, न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषु उक्तम्, त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाऽभावाद् न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्, व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयतीति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तते इति भावः। 'तव समयः' इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी। सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्य अर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद् वाच्य-वाचकभावो न विरुध्यते- "अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं" इति वचनात्, अथवा उत्पादव्यय-ध्रौव्यप्रपञ्चः समयः, तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाऽभिधानात्। तथा चार्षम्- "उप्पंज्जेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इत्यदोषः। मत्सरित्वाऽभावमेव विशे-षणद्वारेण समर्थयति- 'नयानशेषानविशेषमिच्छन्' इति। अशेषान् समस्तान् नयान् नैग-

१ अर्थं भाषतेऽर्हन् सूत्रं ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणम्। इति छाया। २ मातृका-लिपिर्मूलाक्षराणि।
२ उत्पद्यते वा, विगच्छति (नश्यति) वा, ध्रुवति वा। इति छाया।

भावेन, अविशेषं निर्विशेषं यथा भवति एवम्, इच्छन् आकाङ्क्षन्, सर्वनयात्मकत्वात् अनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः, एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता?। उच्यते– यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति, एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयाऽवतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्। न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति?, समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

" उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः " ॥ १ ॥



१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकास्तोत्रे चतुर्थद्वात्रिंशिकायां १५ श्लोक.।

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते– यथा अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाऽङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथं भूतः ?, पक्षपाती– पक्षमेकपक्षाभिनिवेशम्, पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती, रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्। अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदम्, पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च क्लिष्टाऽक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः। इति काव्यार्थः॥

इत्थङ्कारं कतिपयपदार्थविवेचनद्वारेण स्वामिनो यथार्थवादाख्यं गुणमभिष्टुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्याऽसामर्थ्यं दृष्टान्तपूर्वकमुपदर्शयन् औद्धत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तरतिरोहितं स्वाभिधानं च प्रकाशयन् निगमनमाह—

**वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुख्य!।**
**लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम्॥३१॥**

विभव एव वैभवं प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, विभोर्भावः कर्म चेति वा वैभवम्। वाचां वैभवं



१ जीवनाशं- संपूर्णतयेत्यर्थः। २ 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' इति हैमसूत्रम् ७।२।१६५।

वाग्वैभवं वचनसंपत्प्रकर्षम्, विभोर्वा इति पक्षे तु सर्वनयव्यापकत्वम्, विभुशब्दस्य व्याप-
कार्थपरतया रूढत्वात्। ते तव संबन्धिनं निखिलं कृत्स्नं विवेक्तुं विचारयितुं चेद् यदि वयमा-
शास्महे इच्छामः, हे महनीयमुख्य! – महनीयाः पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनस्तेषु मुख्यः प्रधानभूतः,
आद्यत्वात्, तस्य संबोधनम्। ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वाद् अर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि
तेषां मुख्यत्वम्?, न च हीनगुणत्वमसिद्धम्, प्रव्रज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रव-
णात् – "[1] काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे" इति श्रुतकेवलिवचनात्। मैवम्,
अर्हदुपदेशेनैव सिद्धानामपि परिज्ञानात्। तथा चार्षम् – "[2] अरहन्तुवएसेणं सिद्धा नज्जंति
तेण अरिहाऽऽई" इति। ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम्। यदि तव वाग्वैभवं निखिलं
विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह – 'लङ्घेम' इत्यादि। तदा इत्यध्याहार्यम्। तदा जङ्घालतया
जाङ्घिकतया वेगवत्तया, समुद्रं लङ्घेम किल समुद्रमिव अतिक्रमामः। तथा पिबेम धारयेम,
चन्द्रद्युतीनां चन्द्रमरीचीनां पानं चन्द्रद्युतिपानम्, तत्र तृष्णा तर्षोऽभिलाष इति यावत् चन्द्रद्यु-

॥१९१॥

१ कृत्वा नमस्कारं सिद्धेभ्योऽभिग्रहं तु सोऽगृह्णीत्। इति छाया।
२ अर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्ते तेनार्हन् आदिः। इति छाया।

तिपानतृष्णा, ताम्। उभयत्राऽपि सम्भावने सप्तमी। यथा कश्चिच्चरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रादि अन्तरेणाऽपि समुद्रं लङ्घितुमीहते, यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयीः श्रुत्वा चुलुकादिना पातुमिच्छति; न चैतद् द्वयमपि शक्यसाधनम्। तथा नैयक्षेण भवदीयवाग्वैभववर्णनाकाङ्क्षाऽपि अशक्यारम्भप्रवृत्तितुल्या, आस्तां तावत् तावकीनवचनविभवानां सामस्त्येन विवेचनविधानम्, तद्विषयाकाङ्क्षाऽपि महत् साहसमिति भावार्थः।

अथवा 'लंघु शोषणे' इति धातोर्लङ्घेम शोषयेम, समुद्रं जङ्घालतया अतिरंहसा, अतिक्रमणार्थलङ्घेस्तु प्रयोगे दुर्लभं परस्मैपदमनित्यं च आत्मनेपदमिति। अत्र च औद्धत्यपरिहारेऽधिकृतेऽपि यद् 'आशास्महे' इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्यः प्रयुक्तवांस्तदिति सूचयति---यद् विश्वन्ते जगति मादृशा मन्दमेधसो भूयांसः स्तोतारः, इति बहुवचनमात्रेण न खलु अहङ्कारः स्तोतरि प्रभौ शङ्कनीयः। प्रत्युत निरभिमानताप्रासादोपरि पताकारोप एवाऽवधारणीयः। इति काव्यार्थः। एषु एकत्रिंशति वृत्तेषु उपजातिच्छन्दः॥

एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभिचारिव-



१ पूर्णतया। २ हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ६८। ३ 'अहङ्कारविकारः प्रतीकनीयः' इत्यपि पाठः।

अनन्तरकाव्येनाऽन्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिविन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति—

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे,
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा! विनिहितम् ।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवाऽतस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगत् विश्वम्– उपचारात् जगद्वर्ती जनः । हतपरैः– हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे, तैर्मायाकारैरिव ऐन्द्रजालिकैरिव– शाम्बरीप्रयोगनिपुणैरिव इति यावत्, अन्धतमसे निबिडान्धकारे, 'हा इति खेदे' विनिहितं विशेषेण निहितं स्थापितं पातितमित्यर्थः । अन्धं करोतीत्यन्धयति, अन्धयतीत्यन्धम्, तच्च तत्तमश्चेत्यन्धतमसम् "समवा

१ हेमसूत्रम् ।

न्धात् तमसः" ॥ ७ । ३ । ८० ॥ इत्यत्प्रत्ययः, तस्मिन् अन्धतमसे । कथंभूतेऽन्धतमसे? इति, द्रव्यान्धकारव्यवच्छेदार्थमाह– 'तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरकराले'। तत्त्वं चाऽतत्त्वं च तत्त्वा-तत्त्वे तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता व्यामिश्रता स्वभावविनिमयस्तत्त्वाऽतत्त्वव्यतिकरस्तेन कराले भयङ्करे। यत्राऽन्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशः, अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यति-करः संजायत इत्यर्थः। अनेन च विशेषणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेव अन्धतमसम्, तस्यैव ईदृक्षलक्षणत्वात्। तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः –

" अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् " ॥ १ ॥

ततोऽयमर्थः– यथा किल ऐन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चाः तथा-विधमौषधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किञ्चित्प्रयुज्य परिषज्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति, तथा परतीर्थिकैरपि तादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदर्श्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति। तज्जगदुद्धर्तुं मोहमहान्धकारोपप्लवात् कष्टुम्, नियतं निश्चितम्, त्वमेव, नान्यः शक्तः समर्थः। किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते ?, इति विशेषणद्वारेण कारणमाह– 'अवि-

१ स्वोपज्ञयोगशास्त्रे द्वितीयप्रकाशे श्लोकः ३ । २ 'रुपदिश्य' इत्यपि पाठः ।

संवादिवचनः'। कष-च्छेद-तापलक्षणपरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन कलधौतो न विसंवदतीत्येवंशी-लमविसंवादि, तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्याऽसावविसंवादिवचनः' इत्यभिप्रायार्थः। यथा च पारमेश्वरी वाग् न विसंवादमासादयति तथा तत्र तत्र स्याद्वादसाधने दर्शितम्। कषादिस्वरूपं चेत्थमाचक्षते प्रावचनिकाः —

"पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो। झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥१॥
बज्झाणुट्ठाणेणं जेण न बाहिज्जए तयं नियमा। संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउ त्ति ॥२॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इह तावो। एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ ३ ॥"

तीर्थान्तरीयास्तु हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति ते महामोहान्धतमस एव जगत् पातयितुं समर्थाः, न पुनस्तदुद्धर्तुम्, अतः कारणात्। कुतः कारणात्? कुमतध्वान्तार्णवान्तः-पतितभुवनाऽभ्युद्धारणाऽसाधारणसामर्थ्यलक्षणात्, हे यातत्रिभुवनपरित्राणप्रवीण !, त्वयि



१ श्रीहरिभद्रसूरिकृतपञ्चवस्तुकचतुर्थद्वारे–प्राणवधादीनां पापस्थानानां यस्तु प्रतिषेधः। ध्यानाध्ययनादीनां यश्च विधिरेष धर्मकषः ॥ १ ॥ बाह्यानुष्ठानेन येन न बाध्यते तन्नियमात्। संभवति च परिशुद्धं स पुनर्धर्मे छेद इति ॥ २ ॥ जीवादिभाववादो बन्धादिप्रसाधक इह तापः। एवं परिशुद्धो धर्मो धर्मत्वमुपैति ॥ ३ ॥ इति छाया।

काक्काऽवधारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये न देवान्तरे, कृतधियः-- 'करोतिरत्र परिकर्मणि वर्तते' यथा हस्तौ कुरु, पादौ कुरु इति, कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेशलतत्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधियश्चिद्रुपाः पुरुषाः, कृतसपर्याः- प्रादिकं विनाऽप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात् कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्या आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति। इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः॥

॥ समाप्ता चेयमन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका॥



१ रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी चैः॥ यमनसभलगा चैरिति षड्भिर्यतिः। हैमछन्दोऽनुशासनं अ. २ सू. २८७।

# टीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरं प्रामाणिकाग्र्यस्थलीं हेमाचार्यसमुद्भवस्तवममूरत्नैः समर्थः सखा ।
तेषां शूर्नयवस्तुसंभवमयाऽस्पृष्टात्मनां मम भवस्याध्यासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिं शिवश्रीमदा ॥१॥
मातुर्विश्वमबोधभेदिभगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरां गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम ।
प्रायेण ममपादरामहगरामृतममृतायमं तन्नूनं गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २॥

अन्यान्यशास्त्रतरुसंगतविस्तहारिपुष्पोपमेयकतिचिन्निचितप्रमेयैः ।
दृब्धां मयाऽन्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेनां मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत् किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥

उन्मीलेप सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणो यत्रैव प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते।
किं चामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गार यदीयं मुदा शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां सद्वादमेवस्विनीम् ।५।
नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः । ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ युग्मम् ॥

श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥ ७ ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा । श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८॥
मित्राणे किल निःसर्गाज्जिनतुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभो,
तद्व्यस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद् भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुण-दूषणे निजगिरां तन्नाथ्यते सज्जनान्,
तस्यास्तत्त्वमकृत्रिमं वक्तुमतिः साऽस्त्यत्र सम्यग् यतः ॥ ९ ॥

## अवशिष्टगाथा-छाया.

अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्नं च । क्षुर-ऽग्नि-मोदकोच्चारणे यस्मात् न वदन श्रवणयोः ॥ १ ॥ पृ — १३,४
नाऽपि च्छेदो नापि दाहो न पूरणम्, तेन भिन्नं तु । यस्माच्च मोदकोच्चारणे तत्र प्रत्ययो भवति ॥ २ ॥
न च भवति अन्यार्थे तेनाऽभिन्नं तदर्थात् ।